औरत
और
प्राकृतिक नियम

सैयद अबुल आला मौदूदी

प्राकृतिक नियम

प्रकृति ने तमाम प्राणियों की भांति मनुष्य को भी 'जोड़े' अर्थात दो ऐसी जातियों के रूप में पैदा किया है, जो एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक रुझान रखती हैं। पर दूसरे जीवधारियों का जिस हद तक अध्ययन किया गया है, उससे मालूम होता है कि उनमें इस जातीय (नर-मादा सम्बन्धी) विभाजन और इस स्वभावगत झुकाव का ध्येय केवल जाति विशेष का जीवन मात्र है। इसीलिए उनमें यह झुकाव केवल इस हद तक रखा गया है, जो हर जाति को बाक़ी रखने के लिये ज़रूरी है और उनकी प्रकृति में ऐसी नियंत्रण-शक्ति रख दी गई है जो काम-सम्बन्धों में उस नियत मर्यादा का उल्लंघन करने नहीं देती। इसके विपरीत मनुष्य में यह अभिरुचि असीमित, अनियंत्रित और तमाम दूसरे जीवधारियों से बढ़ी हुई है। इसके लिए वक़्त और मौसम की कोई क़ैद नहीं है। इसके स्वभाव में कोई ऐसी नियंत्रण-शक्ति भी नहीं है जो उसे किसी हद पर रोक दे। मर्द और औरत एक-दूसरे के प्रति स्थाई झुकाव रखते हैं। उनके भीतर एक-दूसरे की ओर खिंचने-खिंचाने के अपार साधन जुटा दिये गये हैं। उनके हृदय में जातीय प्रेम एवं अनुराग की एक प्रबल प्रेरणा रख दी गई है। उनके शरीर की रचना और उसका सुडोलपन, रंग-रूप और उसके स्पर्श और उसके एक-एक अंग में विपरीत जाति के लिए आकर्षण उत्पन्न कर दिया गया है। उनकी ध्वनि, गति, छवि, चाल-ढाल, प्रत्येक वस्तु में खींच लेने की शक्ति भर दी गई है। और आस-पास की दुनिया में भी अगणित ऐसे

साधन पैदा कर दिये गये हैं जो दोनों की लैंगिक प्रेरणाओं को गतिवान् बनाते और उन्हें एक-दूसरे की ओर प्रवृत्त करते हैं। हवा की सरसराहट, पानी का बहाव, घासों की हरियाली, फूलों की महक, चिड़ियों के चहचहे, गगन की घटायें, चांदनी रात का माधुर्य, तात्पर्य यह कि प्रकृति के सौंदर्य की कोई भी शैली और ब्रह्मांड की सुन्दरता की कोई भी छवि ऐसी नहीं है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस को गतिवान बनाने का कारण न बनती हो।

फिर मनुष्य की शारीरिक-व्यवस्था का निरीक्षण कीजिये तो मालूम होगा कि इसमें शक्ति का जो बहुत बड़ा ख़ज़ाना रखा गया है, वह एक ही समय में जीवन-शक्ति और कार्य-शक्ति भी है और काम-सम्बन्ध की शक्ति भी। यही ग्रंथियां, जो उसके अंगों को जीवन-रस प्रदान करती हैं और उसमें स्फूर्ति, सामर्थ्य, बुद्धिमत्ता और कार्य-क्षमता पैदा करती हैं, उन्हीं के सुपुर्द यह सेवा भी की गई है कि उसमें काम-सम्बन्ध की शक्ति भी पैदा करें, इस शक्ति को गतिशील बनाने वाली भावनाओं को विकसित करें, इन भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए सौंदर्य, रूप, निखार और फबन के विभिन्न साधन एकत्र करें और इन साधनों से प्रवाहित होने की क्षमता उसकी आंखों, उसके कानों और उसकी घ्राण एवं स्पर्शेन्द्रियों, यहां तक कि उसकी कल्पना-शक्ति तक में एकत्र कर दें।

प्रकृति की यही कार्य-विधि मनुष्य की मानसिक शक्तियों में भी दिखाई देती है। उसके मन में जितनी प्रेरक शक्तियां पाई जाती हैं उन सबका नाता दो प्रबल संकल्पों से होता है। एक वह संकल्प जो उसे स्वयं अपने वजूद की हिफ़ाज़त और अपनी निजी सेवा पर उभारता है, दूसरा वह संकल्प जो अपनी विपरीत जाति से सम्बन्ध रखने पर

मजबूर करता है। युवावस्था में, जबकि मनुष्य की कार्यकारी शक्तियां अपनी चरम सीमा पर होती हैं, यह दूसरा संकल्प इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी वह प्रथम संकल्प को भी दबा लेता है और मनुष्य इतना अधिक उसके प्रभावाधीन हो जाता है कि उसे अपने प्राण तक गंवा देने और अपने आपको जानते-बूझते विनाश के गर्त में डाल देने में कोई झिझक महसूस नहीं होती।

संस्कृति की रचना में इसका प्रभाव

यह सब कुछ किस लिये है? क्या केवल जाति विशेष को बाक़ी रखने के लिए? नहीं—क्योंकि मानव-जाति को बाक़ी रखने के लिए उस मात्रा में सन्तानोत्पत्ति की भी ज़रूरत नहीं, जितनी मछली, बकरी या ऐसे ही दूसरे जीवों के लिए है। फिर क्या कारण है कि प्रकृति ने सब जीवों से अधिक जातीय अभिरुचि मनुष्य में रखी है और उसके लिए सबसे अधिक उभारने-उकसाने के साधन जुटा दिए हैं? क्या यह केवल मनुष्य के भोग-विलास और रसास्वादन के लिए है? यह भी नहीं—प्रकृति ने कहीं भी मनोरंजन और रसास्वादन को लक्ष्य मात्र नहीं बनाया है। यह तो मनुष्य और अन्य प्राणियों को किसी महान उद्देश्य की सेवा पर मजबूर करने के लिए स्वाद व रसास्वादन को सिर्फ़ चाशनी के तौर पर देती है ताकि वे इसे पराया नहीं अपना काम समझ कर करें। अब विचार कीजिए कि इस मामले में कौन-सा महान उद्देश्य प्रकृति के सम्मुख है? आप जितना विचार करेंगे कोई और वजह इसके सिवा समझ में न आएगी कि प्रकृति, अन्य जीवों के विपरीत, मानव-जाति को सभ्य तथा सुशील बनाना चाहती है। इसीलिए मनुष्य के हृदय में जातीय प्रेम एवं अनुराग का वह संकल्प रखा गया है जो न केवल शारीरिक मेल तथा सन्तानोत्पत्ति-क्रिया ही का तक़ाज़ा करता है बल्कि

एक स्थाई सहचर्य, हार्दिक सम्बन्ध और आध्यात्मिक लगाव की मांग भी करता है।

इसीलिए मनुष्य में जातीय अभिरुचि, उसकी यथार्थ काम-शक्ति से कहीं अधिक रखी गई है। अगर उसी अनुपात से, बल्कि एक और दस के अनुपात से वह सन्तानोत्पादन करे, तो उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाए और दीर्घायु तक पहुंचने से पहले ही उसकी शारीरिक शक्तियां ख़त्म हो जाएँ। यह बात इस बात की खुली हुई दलील है कि मनुष्य में जातीय आकर्षण की प्रचुरता का मतलब यह नहीं है कि वह अन्य जीवों से बढ़कर सम्भोग करे, बल्कि इससे अभिप्राय औरत और मर्द को एक-दूसरे के साथ बांधे रखना, और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में स्थायित्व एवं दृढ़ता उत्पन्न करना है।

इसीलिए नारी के स्वभाव में जातीय आकर्षक और काम-वासना के साथ-साथ लज्जा, संकोच, निषेध, पलायन तथा रुकावट का तत्व रखा गया है जो न्यूनाधिक हरेक स्त्री में पाया जाता है। यह संकोच व पलायन की प्रवृत्ति यद्यपि दूसरे प्राणियों की मादाओं में भी दीख पड़ती है, परन्तु मानव की नारी-जाति में इसकी शक्ति और मात्रा बहुत ज़्यादा है और उसको लज्जा व संकोच की भावनाओं द्वारा और अधिक तीव्र कर दिया गया है। इससे भी मालूम होता है कि मनुष्य में जातीय आकर्षण का ध्येय एक स्थाई सम्बन्ध है, न यह कि हरेक जातीय आकर्षण एक मैथुन-क्रिया का परिणाम है।

इसीलिए मनुष्य के बच्चे को तमाम बच्चों से अधिक कमज़ोर और विवश पैदा किया गया है। दूसरे जीवधारियों के ख़िलाफ़ मनुष्य का बच्चा कई वर्ष तक माता-पिता की हिफ़ाज़त तथा देखरेख का मुहताज होता है और उसमें अपने आपको सम्भालने और अपनी सहायता आप

करने की क्षमता बहुत देर में पैदा होती है। इससे यह अभिप्रेत है कि औरत-मर्द का सम्बन्ध केवल लैंगिक सम्बन्ध तक न रहे, बल्कि इस सम्बन्ध का परिणाम उनको परस्पर सहयोग एवं सहकार्य पर विवश कर दे।

इसीलिए मनुष्य के हृदय में सन्तान के प्रति प्रेम तमाम जीवों से अधिक रखा गया है। अन्य प्राणी कुछ दिनों तक अपने बच्चों की देख-रेख करने के बाद उनसे अलग हो जाते हैं, फिर उनमें कोई नाता बाक़ी नहीं रहता, बल्कि वे एक-दूसरे को पहचानते भी नहीं। इसके ख़िलाफ़ मनुष्य शुरू के पालन-पोषण का समय बीत जाने के बाद भी, सन्तान के प्रेम-पाश में जकड़ा रहता है, यहां तक की यह प्रेम सन्तान की सन्तान तक चलता रहता है और मनुष्य का स्वार्थपरक पशुत्व भी इस प्रेम के इतना प्रभावाधीन रहता है कि वह जो कुछ सिर्फ़ अपने लिए ही चाहता है, उससे कहीं अधिक अपनी औलाद के लिए चाहता है, और उसके हृदय में भीतर से यह उमंग पैदा होती है कि जहां तक हो सके, औलाद के लिए उत्तम-से-उत्तम जीवन-सामग्री एकत्र करे और अपने परिश्रमों के फल उनके लिए छोड़ जाए। इस तीव्र प्रेम-भावना के पैदा कर देने से प्रकृति का ध्येय केवल यही हो सकता है कि औरत और मर्द के लैंगिक सम्बन्ध को एक स्थाई सम्बन्ध में बदल दे, फिर उस स्थाई सम्बन्ध को परिवार-व्यवस्था का ज़रिया बनाए, फिर नातों-रिश्तों से प्रेम का सिलसिला बहुत से परिवारों को शादी-विवाह के सम्बन्धों से परस्पर बांधता चला जाए, फिर प्रेमों व प्रेमियों का योग उनमें सहयोग एवं सहकार्य का सम्बन्ध पैदा कर दे और इस तरह एक संस्कृति-व्यवस्था वजूद में आ जाए।

संस्कृति की मूल समस्या

इससे मालूम हुआ कि यह जातीय अभिरुचि, जो मानव-शरीर की नस-नस और उसके हृदय के कोने-कोने में रखी गई है और जिस की मदद के लिए ज़्यादा बड़े पैमाने पर सृष्टि के कण-कण में साधन व प्रेरणाएँ जुटाई गई हैं, उसका मक़्सद मनुष्य की वैयक्तिकता को सामाजिकता की ओर प्रवृत्त करना है—प्रकृति ने इस अभिरुचि को मानव-संस्कृति की मूल प्रेरक-शक्ति बनाया है। इसी अभिरुचि व आकर्षण द्वारा मानव मात्र की दो जातियों में लगाव पैदा होता है और फिर इस लगाव से सामाजिक जीवन का आरम्भ होता है।

जब यह बात सिद्ध हो गई, तो यह बात भी आप से आप ज़ाहिर हो गई कि औरत-मर्द के सम्बन्धों की समस्या वास्तव में संस्कृति की मूल समस्या है और इसी के सही हल पर संस्कृति का सुधार व बिगाड़, उसका उत्कर्ष व अपकर्ष और उसकी स्थिरता व अनस्थिरता का आश्रय है। मानव-जाति के इन दोनों हिस्सों में एक सम्बन्ध पाशविक (या दूसरे शब्दों में विशुद्ध लैंगिक तथा सर्वथा कामज) है, जिसका प्रयोजन मानव-जाति को बाक़ी रखने के अलावा और कुछ नहीं और दूसरा सम्बन्ध मानुषिक है, जिसका ध्येय यह है कि दोनों मिलकर संयुक्त-स्वार्थों के लिये अपनी-अपनी योग्यताओं और अपनी-अपनी प्राकृतिक क्षमताओं के अनुसार काम करें। इस सहयोग के लिये उनका जातीय प्रेम सम्बन्ध सूत्र का काम देता है और वे पाशविक तथा मानुषिक तत्व, दोनों मिलकर एक ही समय में उनसे संस्कृति का कारोबार चलाने की सेवा भी लेते हैं और इस कारोबार को जारी रखने के लिये और व्यक्तियों को इकट्ठा करने की सेवा भी। संस्कृति के बनाव व

बिगाड़ का आश्रय इस पर है कि इन दोनों तत्वों का सामन्जस्य अति सन्तुलित तथा समुचित हो।

शुद्ध संस्कृति के लिए ज़रूरी चीज़ें

आइए, अब हम इस समस्या का विशलेषण करके यह मालूम करें कि एक शुद्ध संस्कृति के लिए औरत-मर्द के पाशविक व मानुषिक सम्बन्ध में संतुलित और समुचित सामान्जस्य के उपाय क्या हैं और इस सामन्जस्य पर असन्तुलन के किन-किन रूपों के प्रभाव डालने से संस्कृति में बिगाड़ पैदा हो जाता है।

(१) जातीय अभिरुचि में सन्तुलन

सबसे अहम और पहला प्रश्न खुद उस जातीय अभिरुचि व आकर्षण का है कि उसे किस प्रकार क़ाबू में रखा जाये। ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्य के भीतर यह अभिरुचि तमाम जीवधारियों से कहीं प्रबल है। न सिर्फ यह कि मानव-शरीर के भीतर ये कामोद्दीपक शक्तियां अधिक प्रबल हैं, बल्कि बाहर भी इस विशाल सृष्टि में चहुं ओर असंख्य-कामोद्दीपक प्रेरणाएँ फैली हुई हैं। यह चीज़ जिसके लिए प्रकृति ने खुद ही इतने अधिक प्रबन्ध कर रखे हैं, अगर मनुष्य भी अपने प्रयास और आविष्कार-शक्ति से काम लेकर उसको बढ़ाने और तरक्क़ी देने के साधन इकट्ठा करने लगे और ऐसी समाज-व्यवस्था अपनाले, जिसमें उसकी काम-वासना बढ़ती चली जाए और इस प्यास को बुझाने की सुविधाएँ भी पैदा की जाती रहें, तो ज़ाहिर है कि ऐसी हालत में यह उचित सीमा को बहुत ज़्यादा उलांघ जायेगी, मनुष्य का पाशविक तत्व उसके मानुषिक तत्व पर पूरी तरह छा जायेगा और यह

पाशविकता, उसकी मानुषिकता और उसकी संस्कृति दोनों को खा जाएगी।

जातीय सम्बन्ध और उसके सूत्रों व प्रेरकों में एक-एक चीज़ को प्रकृति ने रसमय बनाया है, मगर जैसाकि हम पहले इशारा कर चुके हैं, प्रकृति ने यह रसास्वादन की चाट केवल अपने उद्देश्य अर्थात संस्कृति-निर्माण के लिए लगाई है। इस चाट का हद से बढ़ जाना और उसी में मनुष्य का फंसा रहना, न केवल संस्कृति, बल्कि ख़ुद मनुष्य के भी विनाश का कारण हो सकता है, हो रहा है और बार-बार हो चुका है। जो राष्ट्र तबाह हो चुके हैं, उनके भग्नावशेषों और उनके इतिहास को देखिए—काम-वासना उनमें सीमा पार कर चुकी थी, उनके साहित्य इसी प्रकार के कामोद्दीपक विषयों से भरे हुए पाए जाते थे। उनकी कल्पनाएँ, उनकी कहानियां, उनकी कविताएँ, उनके चित्र, उनकी मूर्तियाँ, उनके पूजा-घर, उनके भवन, सब-के-सब इसी के साक्षी हैं. जो राष्ट्र अब विनाश की ओर जा रहे हैं, उनकी हालत भी देख लीजिये। वे अपनी कामुकता को भले ही कला और ललित साहित्य और सौंदर्य-प्रेम और ऐसे कितने ही सुन्दर 'निर्दोष' नामों से याद कर लें, किन्तु व्यञ्जना के बदल जाने से वास्तविकता नहीं बदल जाती। यह क्या चीज़ है कि समाज में औरत को औरतों से अधिक मर्द का सम्पर्क और मर्द को मर्दों से अधिक औरतों की संगति पसन्द है? यह क्यों है कि औरतों और मर्दों में बनाव-सिंगार की रुचि बढ़ती जा रही है? इसकी क्या वजह है कि मिश्रित समाज में औरत का शरीर वस्त्र से बाहर निकला पड़ता है? वह कौन-सी चीज़ है, जिसके कारण औरत अपने शरीर के एक-एक अंग को खोल-खोल कर पेश कर रही है और मर्दों की ओर से 'तनिक और, तनिक और' की मांग है? इसका क्या

कारण है नग्न चित्र, नंगी मूर्तियां और वस्त्रहीन नृत्य, सबसे ज़्यादा पसन्द किये जाते हैं? इसकी क्या वजह है कि सिनेमा में उस समय तक आनन्द ही नहीं आता, जब तक इश्क़ व मुहब्बत की चाशनी न हो और उस पर लैंगिक सम्बन्ध के बहुत से मौखिक एवं व्यावहारिक सूत्रों की वृद्धि न की जाए? ये और ऐसे ही कार्य अगर काम-वासना के द्योतक नहीं, तो किस चीज़ के हैं? जिस संस्कृति में ऐसा असन्तुलित कामोद्दीपक वातावरण पैदा हो जाये, उसका परिणाम विनाश के अलावा और क्या हो सकता है?

ऐसे वातावरण में काम-वासनाओं की तीव्रता, सतत् उत्तेजना और अनन्त प्रेरणाओं के कारण अनिवार्य है कि नस्लें कमज़ोर पड़ जायें, शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास रुक जाए, बौद्धिक प्रवृतियां अस्तव्यस्त हो जायें,[१] बुराइयों की ज़्यादती हो, गन्दी बीमारियां फैलें, गर्भ-निरोध, गर्भपात और शिशु-वध सरीखे आन्दोलन

---

१. एक डाक्टर लिखता है—'प्रौढ़ता के आरम्भ का समय अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ आता है। मन और शरीर की विभिन्न क्रियाओं में उस वक्त एक क्रान्तिकारी स्थिति पैदा हो जाती है और तमाम हैसियतों से सामान्य विकास होने लगता है। मनुष्य को उस समय इन परिवर्तनों को सहन करने और इस विकास एवं बुद्धि को प्राप्त करने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति की ज़रूरत होती है। इसी वजह से बीमारियों के मुक़ाबले की ताक़त उस समय मनुष्य में कम हो जाती है—सामान्य विकास, अवयवों की प्रगति और मानसिक एवं शारीरिक परिवर्तनों की यह दीर्घ प्रक्रिया, जिसके बाद मनुष्य बच्चे से प्रौढ़ बनता है, एक ऐसी थका देने वाली प्रक्रिया है, जिसके बीच मानव-स्वभाव घोर परिश्रम करता है, ऐसी स्थिति में उस पर कोई असाधारण बोझ डालना उचित नहीं—मुख्य रूप से काम-वासना तथा कामोद्दीपक प्रेरणा तो उसके लिए विनाशकारी है।' (शेष अगले पृष्ठ पर)

चलें, औरत-मर्द पशुओं की भांति मिलने लगें, यहां तक कि प्रकृति ने उनके भीतर जो जातीय अभिरुचि तमाम जीवों से बढ़ कर रखी है उसको वे प्रकृति के उद्देश्यों के विरुद्ध इस्तेमाल करें और अपनी पाश्विकता में अपने पशुओं से बाज़ी ले जायें, यहां तक कि बन्दरों और बकरों को मात कर दें। निश्चय ही ऐसी प्रबल पाश्विकता मानव-संस्कृति व सभ्यता, बल्कि स्वयं मानवता का भी सर्वनाश कर देगी, और जो लोग इसमें फँसेंगे, उनका नैतिक पतन उनको इतने नीचे गिराएगा, जहां से वे फिर कभी उठ न सकेंगे।

ऐसा ही भयानक परिणाम उस संस्कृति का भी होगा जो इस समस्या की दूसरी सीमा पर होगी। जिस तरह जातीय अभिरुचि का सीमा पार कर जाना घातक है, उसी तरह उसको हद से ज़्यादा दबाना और कुचल देना भी क्षतिवर्धक है। जो समाज-व्यवस्था मनुष्य को सन्यास, ब्रह्मचर्य और साधुत्व की ओर ले जाना चाहती है, वह प्रकृति से टक्कर लेती है और प्रकृति अपने प्रतिद्वन्द्वी से कभी परास्त नहीं होती, बल्कि ख़ुद उसको तोड़ कर रख देती है। विशुद्ध सन्यास की

(पिछले पृष्ठ का शेष)

एक और मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का विशेषज्ञ लिखता है—'लैंगिक अंगों का सम्बन्ध चूंकि स्वाद और जोश की असाधारण संवेदनाओं से है, इस वजह से ये अंग हमारी मानसिक शक्तियों में से एक बड़ा भाग अपनी ओर खींच ले जाने या दूसरे शब्दों में उन पर डाका डाल देने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। अगर उन्हें अवसर मिल जाए तो ये मनुष्य को समाज व संस्कृति की सेवा के बजाय व्यक्तिगत भोग-विलास में ही लगाए रखें। यह ताक़तवर पोज़ीशन, जो उनको मानव-शरीर में प्राप्त है, मनुष्य के जातीय जीवन को तनिक-सी चूक में सन्तुलित अवस्था से असन्तुलन की ओर ले जाकर लाभप्रद से हानिप्रद बना सकती है। शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य यही होना चाहिए कि इस संकट की रोक-थाम की जाए।'

धारणा तो स्पष्ट है कि किसी संस्कृति का आधार बन ही नहीं सकती, क्योंकि वह तो वास्तव में संस्कृति व सभ्यता का निषेध है। हां, सन्यासवादी धारणाओं को दिलों में बिठा कर समाज-व्यवस्था में एक ऐसा वासनाशून्य वातावरण ज़रूर पैदा किया जा सकता है, जिसमें काम-सम्बन्धों को स्वतः एक नीच, घृण और घिनावनी चीज़ समझा जाए, उससे बचने को नैतिकता का आदर्श मान लिया जाए और यथासम्भव इस अभिरुचि को कुचलने की कोशिश की जाये, पर जातीय अभिरुचि को कुचला जाना वास्तव में मानवता का कुचला जाना है। वह अकेली नहीं कुचली जाएगी, बल्कि अपने साथ मनुष्य की बुद्धिमता, कार्य-शक्ति, मानसिक क्षमता, निश्चय व संकल्प और साहस व धैर्य सबको ले कर कुचली जायेगी। उसके चले जाने से मनुष्य की तमाम शक्तियां ठिठुर कर रह जायेंगी, उसका रक्त ठंड़ा पड़ जाएगा, उसमें उभरने की कोई क्षमता बाक़ी न रहेगी, क्योंकि मनुष्य की महानतम प्रेरक शक्ति यही शक्ति जो है।

सारांश यह कि जातीय अभिरुचि को इन पराकाष्ठाओं से बचा कर बीच की राह पर लाना और उसे एक उचित नियमावली से आबद्‌ध करना एक शुद्‌ध संस्कृति का प्रथम कर्तव्य है। सामाजिक जीवन की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि वह एक ओर असामान्य सम्वेदना एवं प्रेरणा के उन तमाम साधनों को रोक दे जिनको मनुष्य स्वयं अपने इरादे और अपनी काम-वासना से पैदा करता है और दूसरी ओर सामान्य सम्वेदनाओं की तृप्ति के लिए ऐसा रास्ता खोल दे जो स्वयं प्रकृति-आशय के अनुसार हो।

(२) परिवार की नींव

अब यह प्रश्न स्वयं ही मस्तिष्क में उत्पन्न होता है कि प्रकृति का

आशय क्या है? क्या इस मामले में हमको बिल्कुल अंधेरे में छोड़ दिया गया है कि आंखें बन्द करके हम जिस चीज़ पर चाहें हाथ रख दें और वही प्रकृति का आशय बन जाए? या प्राकृतिक नियमों पर विचार करने से हम प्रकृति के आशय तक पहुंच सकते हैं? कदाचित् बहुत से लोग पहली हालत ही को मान लेते हैं और इसलिए वे प्राकृतिक नियमों पर नज़र डाले बिना ही जिस चीज़ को चाहते हैं प्रकृति का आशय कह देते हैं। परन्तु एक अन्वेष्टा जब तथ्य की खोज के लिए निकलता है तो कुछ ही दूर चल कर उसे ऐसा जान पड़ता है मानो प्रकृति स्वतः अपने आशय की ओर स्पष्ट रूप से उंगली उठा कर संकेत कर रही है।

यह तो मालूम है कि समस्त जीवधारियों की भांति मनुष्य को भी जोड़े अर्थात् दो जातियों के रूप में पैदा करने और उनके बीच जातीय आकर्षण को उत्पन्न करने से प्रकृति का प्रथम ध्येय जाति-जीवन को बाक़ी रखना है, परन्तु मनुष्य से प्रकृति की मांग केवल इतनी ही नहीं है, बल्कि वह इससे बढ़ कर कुछ दूसरी मांगें भी उससे करती है और थोड़ा-सा ध्यान देने के बाद हमें मालूम हो सकता है कि वे मांगें क्या हैं और किस किस्म की हैं?

सबसे पहले जिस चीज़ पर हमारी नज़र पड़ती है, वह यह है कि समस्त प्राणियों के विपरीत मनुष्य का बच्चा लालन-पालन के लिए अत्यधिक समय, सेवा तथा सावधानी चाहता है। अगर उसे केवल एक प्राणी मात्र ही मान लिया जाए, तब भी हम देखते हैं कि अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने अर्थात भोजन करने और अपने वजूद को बचाए रखने —के योग्य होने में वह कई वर्ष ले लेता है और शुरू के दो-तीन वर्षों तक तो वह इतना विवश होता है कि माता के निरन्तर

संरक्षण के बिना जीवित ही नहीं रह सकता।

परन्तु यह स्पष्ट है कि मनुष्य—भले ही वह सभ्यता के अति आरम्भिक युग में हो—बहरहाल निरा पशु नहीं है। किसी न किसी युग में सभ्यता उसके जीवन के लिये अनिवार्य है। और इस सभ्यता के कारण सन्तान के पालन-पोषण के स्वाभाविक तक़ाजों के साथ अनिवार्य रूप से दो और तक़ाज़े जुड़ जाते हैं। एक यह कि बच्चे के पालन-पोषण में उन समस्त सांस्कृतिक साधनों से काम लिया जाए जो उनके पालने वाले को प्राप्त हो सकें। दूसरे यह कि बच्चे को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि जिस सामाजिक वातावरण में वह पैदा हुआ है, वहां समाज के कारख़ाने को चलाने तथा गत कार्यकर्ताओं का स्थान लेने के लिए वह तैयार हो सके।

फिर संस्कृति जितनी ही अधिक उन्नतिशील एवं उच्च श्रेणी की होती जाती है, ये दोनों तक़ाज़े भी उतने ही अधिक भारी और बोझल होते चले जाते हैं। एक ओर सन्तान के पालन-पोषण के आवश्यक साधन एवं उपकरण बढ़ते जाते हैं और दूसरी ओर संस्कृति, न केवल अपने ज़िन्दा रहने के लिये अपने स्तर के अनुसार अच्छे शिक्षित कार्य-कर्त्ता मांगती है, बल्कि अपने विकास एवं उन्नति के लिये इसकी भी मांग करती है कि हर नस्ल पहली नस्ल से अच्छी उठे अर्थात दूसरे शब्दों में हर बच्चे का संरक्षक उसको स्वयं अपने आपसे अच्छा बनाने की कोशिश करे—चरम सीमा को पहुंचा हुआ त्याग, जो मनुष्य से अहं भाव तक का बलिदान चाहता है।

ये हैं मानव-प्रकृति की मांगें और इन मांगों का पहला निशाना औरतें हैं। मर्द एक क्षण के लिए औरत से मिलकर उससे और उस मिलाप की जिम्मेदारी से अलग हो सकता है परन्तु औरत को तो इस

मिलाप का प्राकृतिक फल वर्षों के लिए, बल्कि जीवन भर के लिए पकड़ कर बैठ जाता है। गर्भवती होने के बाद से कम से कम पांच वर्ष तक तो यह फल उसका पीछा छोड़ता ही नहीं और अगर संस्कृति की तमाम मांगें पूरी करनी हों तो उसका अर्थ यह है कि और अधिक पंद्रह साल तक वह औरत, जिसने एक क्षण के लिए, मर्द के साथ सम्भोग-आनन्द लूटा था, उसकी ज़िम्मेदारियों का बोझ सम्भालती रहे। प्रश्न यह है कि एक संयुक्त क्रिया की ज़िम्मेदारी ओढ़ लेने के लिये केवल एक व्यक्ति किस तरह तैयार हो सकता है? जब तक औरत को अपने सहकारी के विश्वासघात के भय से मुक्ति न प्राप्त हो, जब तक उसे अपने बच्चे के पालन-पोषण की ओर से पूरा इत्मीनान न हो जाये, जब तक उसे स्वयं अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति से बड़ी हद तक भार मुक्त न कर दिया जाये, वह इतना सारा बोझ उठाने पर कैसे तैयार हो जायेगी? जिस औरत का कोई संरक्षक न हो, उसके लिये तो गर्भ, निश्चय ही एक दुर्घटना, एक संकट, बल्कि एक भयावह विपत्ति है, जिससे छुटकारा पाने की इच्छा, उसमें स्वाभाविक रूप से पैदा होनी चाहिये। आख़िर वह इसका स्वागत कैसे कर सकती है?

निश्चय ही यह अनिवार्य है—अगर मानव-जाति का बाक़ी रहना और संस्कृति एवं सभ्यता की स्थापना एवं विकास आवश्यक है—कि जो मर्द जिस औरत को बोझल करे, वही उस बोझ को सम्भालने में उसका सहयोगी भी हो। पर इस सहयोग पर उसे तैयार कैसे किया जाये? वह तो स्वभावतः स्वार्थी उत्पन्न हुआ है। जहां तक मानव-जाति के बाक़ी रखने के प्राकृतिक कर्त्तव्य का सम्बन्ध है, उसके हिस्से का काम तो उसी क्षण पूरा हो जाता है, जबकि वह औरत को बोझल कर

देता है। फिर वह बोझ केवल औरत के साथ लगा रहता है और मर्द से वह किसी प्रकार भी चिपकता नहीं। जहां तक जातीय आकर्षण का सम्बन्ध है, वह भी इसे बाध्य नहीं करता कि उसी औरत से लगा रहे। वह चाहे तो उसे छोड़ कर दूसरी और दूसरी को छोड़ कर तीसरी से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और हर ज़मीन में बीज फेंक सकता है, इसलिये अगर यह मामला केवल उसकी प्रसन्नता पर छोड़ दिया जाये, तो कोई कारण नहीं कि वह प्रसन्नतापूर्वक इस भार को सम्भालने के लिये तैयार हो जाये। आख़िर कौन-सी चीज़ उसे बाध्य करने वाली है कि वह अपने श्रम का फल उस औरत और उस बच्चे पर ख़र्च करे? क्यों वह एक दूसरी सुन्दर तरुणी को छोड़ कर उस पेट फूली स्त्री से अपना दिल लगाये रखे? क्यों वह गोश्त-पोस्त के एक बेकार लोथड़े को अकारण ही अपने ख़र्च पर पाले? क्यों उसकी चीख़ों से अपनी नींद हराम करे? क्यों उस छोटे से शैतान के हाथों अपनी हानि कराये जो हर चीज़ को तोड़ता, फोड़ता और घर भर में गन्दगी फैलाता फिरता है और किसी की सुन कर नहीं देता?

प्रकृति ने किसी हद तक इस समस्या के हल का प्रबन्ध किया है। उसने औरत में, सौंदर्य, चित्ताकर्षण तथा प्रेम के लिये त्याग करने की क्षमता पैदा की है, ताकि इन हथियारों से मर्द की स्वार्थ-परायण वैयक्तिकता पर विजय प्राप्त करे तथा उसे अपना क़ैदी बना ले। उसने बच्चे में भी अपने वश में कर लेने की एक विचित्र शक्ति भर दी है, ताकि वह अपनी कष्टदायिनी, विध्वंसकारिणी विशेषताओं एवं उच्छृंखलताओं के बाद भी माता-पिता को अपने प्रेम-पाश में जकड़े रहे। पर केवल यही चीज़ें ऐसी नहीं हैं कि स्वयं इनका दबाव मनुष्य को अपने नैतिक, स्वाभाविक एवं सांस्कृतिक कर्त्तव्यों का पालन करने के

लिये वर्षों क्षति, कष्ट एवं त्याग सहन करने पर बाध्य कर सके। आख़िर मनुष्य के साथ उसका यह आदिकालिक शत्रु भी तो लगा हुआ है, जो उसे प्राकृतिक मार्ग से हटाने की प्रत्येक समय कोशिश करता रहता है, जिसके छल-कपट की झोली में प्रत्येक युग और प्रत्येक नस्ल के लोगों को बहकाने के लिये भांति-भांति की उक्तियां एवं प्रलोभन का अपार भंडार भरा हुआ है।

यह धर्म का चमत्कार है कि वह मनुष्य को औरत और मर्द दोनों को—जाति एवं संस्कृति के लिये त्याग पर तैयार करता है तथा इस स्वार्थी पशु को मनुष्य बना कर प्रस्तुत करता है। वे ईश्वर के भेजे हुये रसूल ही थे, जिन्होंने प्रकृति के उद्देश्य को ठीक-ठीक समझ कर औरत और मर्द के बीच जातीय सम्बन्ध एवं सांस्कृतिक सहयोग का सही रूप, विवाह प्रस्तावित किया। उन्हीं की शिक्षा और आदेश से इस जगत के प्रत्येक राष्ट्र तथा पृथ्वी के प्रत्येक कोने में विवाह का क़ानून जारी हुआ। उन्हीं के फैलाये हुये नैतिक सिद्वान्तों से मनुष्य में इतनी आध्यात्मिक क्षमता पैदा हुई कि वह इस सेवा की विपत्तियों एवं क्षतियों को सहन करे, वरन् सच तो यह है कि माता और पिता से अधिक बच्चे का शत्रु और कोई नहीं हो सकता था। उन्हीं के स्थापित किये हुये सामाजिकता के नियमों से परिवार-व्यवस्था की नींव पड़ी, जिसका दृढ़ बन्धन लड़कियों और लड़कों को इस दायित्वपूर्ण सम्बन्ध तथा उस सहयोग पर बाध्य करता है वरन् युवावस्था के पाशविक तक़ाज़ों का ज़ोर इतना तीव्र होता है कि केवल नैतिक दायित्व की भावना किसी वाह्य अनुशासन के बिना, उनको मुक्त कामुकता से न रोक सकती थी। काम भावना स्वतः सामूहिकता की शत्रु है। यह स्वार्थ-परायणता, वैयक्तिकता तथा अराजकता की प्रवृति रखने वाली

भावना है। इसमें स्थिरता नहीं, इसमें ज़िम्मेदारी का अहसास नहीं, यह केवल क्षणिक आनन्द पर उभारता है। इस दानव को वश में करके इसे सामूहिक जीवन की—उस जीवन की, जो सहिष्णुता, स्थिरता, श्रम तथा दायित्व एवं निरन्तर सहनशीलता चाहती है—सेवा के लिए तैयार करना कोई आसान काम नहीं। यह विवाह का क़ानून और परि-वार की व्यवस्था ही है, जो इस दानव को शीशे में उतार कर उच्छृंखलता एवं व्यवस्था की एजेन्सी छीन लेती है और उसे औरत-मर्द के उस अविराम सहयोग एवं सहायता का एजेन्ट बना देती है जो सामाजिक जीवन के निर्णय के लिए अनिवार्य है। यह न हो तो मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन समाप्त हो जाए, मनुष्य पशु की भांति रहने लगे और अन्त में मानव-जाति जीवन-पटल से मिट जाये।

अतएव जातीय प्रकृति को अराजकता एवं असन्तुलन से रोक कर उसकी प्राकृतिक अपेक्षाओं की पूर्ति व तृप्ति के लिए, जो मार्ग प्रकृति स्वयं चाहती है कि खोला जाए, वह केवल यही है कि औरत और मर्द के मध्य विवाह द्वारा स्थाई रूप से सम्बन्ध हो और इस सम्बन्ध से पारिवारिक व्यवस्था की नींव पड़े। संस्कृति के विशाल कारख़ाने को चलाने के लिए जिन पुर्ज़ों की ज़रूरत है, वह परिवार के इसी छोटे कार्य-क्षेत्र में तैयार किए जाते हैं। वहां लड़कों और लड़कियों के युवावस्था को पहुंचते ही कार्य-क्षेत्र के व्यवस्थापकों को ख़ुद ही यह चिन्ता होने लगती है कि यथासम्भव उनके ऐसे जोड़े लगाए जायें, जो एक-दूसरे के लिए उपयुक्त हों, ताकि उनके मिलाप से अधिक से अधिक उत्तम नस्ल हो सके, फिर उनसे जो नस्ल निकलती है, इस कार्य-क्षेत्र का प्रत्येक कार्यकर्ता अपने हृदय की शुद्ध भावना से प्रयत्न करता है कि उसको जितना उत्तम बना सकता है बनाए। पृथ्वी पर

अपने जीवन का प्रथम क्षण आरम्भ करते ही बच्चे को परिवार-क्षेत्र मे प्रेम, संरक्षण, सुरक्षा एवं प्रशिक्षण का वह वातावरण मिलता है, जो उसके विकास के लिए अमृत का-सा प्रभाव रखता है। वास्तव में परिवार ही में बच्चे को वे लोग मिल सकते हैं जो उससे न सिर्फ़ प्रेम करने वाले हों, बल्कि जो अपने हृदय की गहराइयों में यह कामना रखते हों कि बच्चा जिस श्रेणी में उत्पन्न हुआ है, उससे उच्च श्रेणी पर वह पहुंचे। संसार में केवल माता और पिता ही के भीतर यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि वह अपने बच्चे को हर प्रकार से स्वयं, अपने से उत्तम हालत में और अपने से बढ़ा हुआ देखें। इस प्रकार वे बिना किसी निश्चय के, तथा बिना किसी अवचेतना के, आगामी नस्ल को आधुनिक नस्ल से उत्तम बनाने तथा मानव-प्रकृति की राह हमवार करने की कोशिश करते हैं। उनकी इस कोशिश में स्वार्थपरायणता क लेश मात्र तक नहीं होता। वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते, वे बस अपने बच्चे का कल्याण चाहते हैं और उसके एक सफल तथा उत्तम मनुष्य बन कर उठने ही को अपने श्रम का फल समझते हैं। ऐसे विश्वासपात्र कार्यकर्त्ता, सेवक तथा निःस्वार्थी परिवार के इस कार्य-क्षेत्र के बाहर कहां मिलेंगे, जो मानव-जाति के हित के लिए न केवल निःशुल्क काम करें, बल्कि अपना समय, अपना सुख, अपनी शक्ति, अपनी योग्यता अपनी हर बहुमूल्य वस्तु बलि दे देने के लिए भी तैयार हों, जिसक फल दूसरे खाने वाले हैं, जो अपने श्रम का फल केवल इसको समझें कि दूसरों के लिए उन्होंने उत्तम कार्यकर्त्ता एवं सेवक पैदा कर दिए क्या इससे अधिक पावन एवं उच्चतम संस्था मानव-जाति में को दूसरी भी है?

हर साल मानव-जाति को अपने स्थायित्व के लिए और मानव

संस्कृति को अपने विकास एवं प्रगति के लिए ऐसे लाखों और करोड़ों जोड़ों की ज़रूरत है जो ख़ुशी-ख़ुशी अपने आपको इस सेवा और इसकी ज़िम्मेदारी के लिए पेश करें और विवाह द्वारा उस प्रकार की और अधिक संस्थाओं की नींव डालें। यह शानदार कारख़ाना जो दुनिया में चल रहा है, यह इसी तरह चल और बढ़ सकता है कि इस प्रकार के स्वयंसेवक सदा सेवा के लिए उठते रहें और इस कारख़ाने के लिए कार्यकर्त्ता जुटाते रहें। अगर नई भर्ती न हो और प्रकृति के नियमों के अनुसार पुराने कार्यकर्त्ता बेकार हो कर हटते चले जायें, तो काम के आदमी कम-से-कम होते चले जायेंगे और एक दिन जीवन की यह पूरी चहल-पहल ख़त्म होकर रह जाएगी। प्रत्येक व्यक्ति, जो इस संस्कृति की मशीन को चला रहा है, उसका कर्त्तव्य सिर्फ़ यही नहीं है कि अपने जीते जी उसको चलाए जाए, बल्कि यह भी है कि अपनी जगह लेने के लिए अपने ही जैसे कार्यकर्त्ता जुटाने की कोशिश करता रहे।

इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो विवाह की हैसियत सिर्फ़ यही नहीं है कि वह जातीय भावनाओं को पूरी करने के लिए एक ही जायज़ शक्ल है, बल्कि वास्तव में यह एक सामूहिक कर्त्तव्य है, यह व्यक्ति पर समूह का स्वाभाविक अधिकार है और व्यक्ति को इस बात का अधिकार कदापि नहीं दिया जा सकता कि वह विवाह करने या न करने का निर्णय स्वयं अपने लिए सुरक्षित रखे। जो लोग बिना किसी उचित कारण के विवाह को अस्वीकार करते हैं, वे समूह के नाकारा व्यक्ति, बल्कि द्रोही और लुटेरे हैं। हर व्यक्ति, जो ज़मीन पर पैदा हुआ है, उसने जीवन की पहली सांस लेने के बाद से युवावस्था तक पहुंचने में उस अपार पूँजी से लाभ उठाया है, जो पिछली नस्लों ने एकत्र की थी, उनकी स्थापित की हुई संस्थाओं ही के कारण उसको जीवित रहने,

बढ़ने, फलने-फूलने और मानवता को विकसित करने का अवकाश मिला। इस बीच वह लेता ही रहा उसने दिया कुछ नहीं। समाज ने इस आशा पर उस की अपूर्ण शक्तियों को पूर्णता की ओर ले जाने में अपनी पूँजी और शक्ति लगाई कि जब वह ख़ुद कुछ देने योग्य होगा, तो देगा। अब अगर वह बड़ा हो कर अपने लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की मांग करता है और कहता है कि मैं केवल अपनी मनोकामनायें पूरी करूँगा, मगर उन ज़िम्मेदारियों और कर्त्तव्यों का बोझ न उठाऊँगा, जो उन कामनाओं से सम्बन्धित हैं, तो वास्तव में वह समाज के साथ द्रोह और धोखा-धड़ी करता है। उसके जीवन का प्रतिक्षण एक ज़ुल्म और अन्याय है। समाज में यदि अवचेतना हो तो वह इस अपराधी को जन्टुलमैन अथवा आनरेबल, मैडेम या महात्मा समझने के स्थान पर उस दृष्टि से, जिससे वह चोरों, डाकुओं और कपटियों को देखता है, देखे। हम ने भले ही, चाहा हो या न चाहा हो— हर हाल में हम उस पूँजी एवं सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए हैं जो हम से पहले की नस्लों ने छोड़ा है। अब हम इस निर्णय में कैसे स्वतंत्र हो सकते हैं कि जिस प्राकृतिक क़ानून के अनुसार यह पैतृक सम्पत्ति हम तक पहुंची है, उसका उद्देश्य पूरा करें या न करें, ऐसी नस्ल तैयार करें या न करें जो मानव-जाति की इस पूँजी एवं सम्पत्ति की उत्तराधिकारी हो, उसको सम्भालने के लिए दूसरे आदमी इस तरह तैयार करें या न करें, जिस तरह हम स्वयं, तैयार किए गए हैं।

(३) आवारगी का रोकथाम

विवाह और परिवार की नींव डालने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि विवाह की चारदीवारियों के बाहर वासनाओं की तृप्ति का द्वार कठोरता से बन्द कर दिया जाए, क्योंकि इसके बिना प्रकृति का वह

ध्येय पूरा नहीं हो सकता, जिसके लिए वह विवाह और परिवार की नींव डालने की मांग करती है।

पुरानी अज्ञानता की भांति इस नई अज्ञानता के युग में भी बहुधा लोग परस्त्री गमन को एक प्राकृतिक प्रक्रिया समझते हैं और विवाह उनके निकट केवल संस्कृति की अविष्कृत या अनावश्यक वस्तुओं में से एक वस्तु है। उनका विचार यह है कि प्रकृति ने जिस तरह हर बकरी को हर बकरे के लिए तथा हर कुतिया को हर कुत्ते के लिए पैदा किया है, उसी तरह हर औरत को भी हर मर्द के लिए पैदा किया है और प्राकृतिक तरीक़ा भी यही है कि जब इच्छा हो, जब अवसर मिले और जब दोनों जातियों के कोई से दो व्यक्ति सहमत हों, तो उनके बीच वैसी ही वासना-पूर्ति होने लगे, जैसे पशुओं में होती है। पर सच तो है कि यह मानव-प्रकृति की पूर्णतयः अशुद्ध व्यञ्जना है। उन लोगों ने मनुष्य को पशुमात्र समझ रखा है, अतएव जब कभी ये 'प्रकृति' शब्द इस्तेमाल करते हैं तो उस से उनका तात्पर्य पाशिवक प्रकृति होती है, न कि मानव-प्रकृति। जिस अव्यवस्थित जातीय सम्बन्ध को ये प्राकृतिक कहते हैं, वह पशुओं के लिए तो निश्चय ही प्राकृतिक है, पर मनुष्य के लिए कभी भी प्राकृतिक नहीं हो सकती। यह न केवल मानव-प्रकृति के प्रतिकूल है, बल्कि अपने अन्तिम परिणामों के अनुसार उस पाशिवक प्रकृति के भी प्रतिकूल हो जाता है जो मनुष्य के भीतर मौजूद है, इसलिए कि मनुष्य के भीतर मानवता एवं पशुता अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं। वास्तव में एक अस्तित्व के भीतर दोनों मिल कर एक ही व्यक्तित्व बनाती हैं और दोनों के तक़ाज़े आपस में एक-दूसरे से इस तरह सम्बद्ध हो जाते हैं कि जहां एक के उद्देश्य से मुख मोड़ा गया, दूसरे का उद्देश्य भी स्वतः समाप्त होकर रह जाता है।

ज़िना में प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को ऐसा अनुभव होता है कि यह कम से कम पाशिवक प्रकृति की मांगों को तो पूरा कर देती है क्योंकि नस्ल

और जातीय स्थायित्व का उद्देश्य एक मात्र जातीय प्रक्रिया से पूरा हो जाता है, चाहे वह विवाह करके हो या बिना विवाह के। पर इससे पहले जो कुछ हम बता चुके हैं, उस पर फिर एक नज़र डाल कर देख लीजिए। आपको मालूम हो जाएगा कि यह प्रक्रिया जिस प्रकार मानव-प्रकृति के ध्येय को क्षति पहुंचाती है, उसी प्रकार पाश्विक-प्रकृति के ध्येय को भी क्षति पहुंचाती है। मानव-प्रकृति चाहती है कि जातीय-सम्बन्ध में स्थायित्व एवं दृढ़ता हो, ताकि बच्चे को माता और पिता दोनों मिल कर पालें और एक बड़े समय तक मर्द न केवल बच्चे का बल्कि बच्चे की मां का भी बोझ उठाए। अगर मर्द को विश्वास न हो कि यह बच्चा उसी का है, तो वह उसके पालन-पोषण के लिए त्याग एवं कष्ट सहन ही न करेगा और न यही पसन्द करेगा कि वह उसके)बाद उसकी सम्पत्ति का मालिक हो। ऐसे ही अगर औरत को विश्वास न हो कि जो उसे बोझल कर रहा है, वह उसकी और उसके बच्चे की ज़िम्मेदारी के लिए तैयार है तो वह गर्भ की विपदाओं को सहन करने के लिए तैयार ही न होगी। अगर बच्चे के पालन-पोषण में माता और पिता सहयोग न दें, तो उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा उसकी नैतिक, मानसिक एवं आर्थिक हैसियत कभी उस स्तर पर न पहुंच सकेगी, जिससे वह मानव-संस्कृति के लिए कोई लाभदायक कार्यकर्त्ता बन सके। ये मानव-प्रकृति की मांगें हैं और जब इन मांगों से विमुख होकर केवल पशुओं की तरह औरत-मर्द अस्थाई सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तो स्वयं पाश्विक प्रकृति की मांगों (अर्थात सन्तानोत्पत्ति) से भी मुँह मोड़ जाते हैं, क्योंकि उस समय सन्तानोत्पत्ति उनकी दृष्टि में नहीं होती और न ही हो सकती है। उस समय उनके बीच जातीय सम्बन्ध केवल वासनाओं की तृप्ति और केवल मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के लिए

होता है, जो सिरे से प्रकृति के आशय ही के प्रतिकूल है।

वर्तमान अज्ञानता के ध्वजावाहक इस पक्ष को ख़ुद भी कमज़ोर पाते हैं, इसलिए इस पर एक और तर्क बढ़ा देते हैं। वे कहते हैं कि अगर समाज के दो व्यक्ति आपस में मिलकर कुछ घंटे मनोरंजन और आमोद-प्रमोद में बितायें तो इसमें आख़िर समाज का क्या बिगड़ता है कि वह इसमें हस्तक्षेप करे? समाज इस रूप में तो अवश्य ही हस्तक्षेप का अधिकार रखता है जबकि एक जाति दूसरे पर अत्याचार करे या धोखे और छल-कपट से काम ले, या किसी सामाजिक विद्रोह का कारण बने, पर जहां इनमें से कोई बात भी न हो और दो व्यक्तियों के बीच केवल आनन्द-प्राप्ति ही का मामला हो, तो समाज को उनके बीच बाधा डालने का क्या अधिकार है? लोगों के ऐसे प्राइवेट मामलों में भी अगर हस्तक्षेप किया जाये तो वैयक्तिक स्वतंत्रता निरर्थक शब्द-मात्र बनकर रह जाएगी।

वैयक्तिक स्वतंत्रता की यह धारणा अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की उन अज्ञानताओं में से एक है, जिनका अन्धकार, ज्ञान-विज्ञान की प्रथम किरण के फूटते ही दूर हो जाता है। थोड़ा सा विचार करने के बाद ही मनुष्य इस बात को समझ सकता है कि जिस स्वतंत्रता की मांग व्यक्तियों के लिए की जा रही है, उसके लिए कोई अवकाश सामाजिक जीवन में नहीं है। जिसको ऐसी स्वतंत्रता अभीष्ट हो, उसे वन में जाकर पशुओं की भांति रहना चाहिए। मानव-समाज तो वास्तव में मिलाप एवं संगठन के ऐसे जाल का नाम है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अन्य अगणित व्यक्तियों से सम्बद्ध है, उनको प्रभावित करता है, उनसे प्रभावित होता है। इस पारस्परिक सम्बन्ध में मनुष्य की किसी प्रक्रिया को एकमात्र वैयक्तिक और पूर्णतयः व्यक्तिगत नहीं

कहा जा सकता। किसी ऐसी वैयक्तिक प्रक्रिया के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता जिसका प्रभाव सामूहिक रूप से पूरे समाज पर न पड़ता हो। व्यक्त क्रियायें तो दूर रहीं, मन में कोई अव्यक्त विचार भी ऐसा नहीं, जो हमारे वजूद पर और उससे प्रतिबिम्बित होकर दूसरों पर प्रभाव डालता हो। हमारे हृदय व देह की हर हरकत के फल हमसे निकल कर इतनी दूर तक पहुंचते हैं कि हमारा ज्ञान किसी तरह उनको घेरे में ले ही नहीं सकता। ऐसी हालत में यह किस तरह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति का अपनी किसी शक्ति का इस्तेमाल करना अपने अलावा और किसी दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकता, अतएव किसी को इससे कोई प्रयोजन नहीं और उसे अपने मामले में पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। अगर मुझे यह स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती कि हाथ में लकड़ी लेकर जहाँ चाहे घुमाऊँ, अपने पांवों को हरकत देकर, जहाँ चाहूं घुस जाऊँ, अपनी गाड़ी को जिस तरह चाहूं चलाऊँ, अपने घर में जितनी गन्दगी चाहूं एकत्र कर लूँ, अगर ये और ऐसे ही अगणित मामले सामाजिक प्रतिबन्धों के पाबन्द होने पर मजबूर हैं तो आख़िर मेरी वासनायें ही अकेले इस 'सम्मान' की हक़दार क्यों हों कि उन्हें किसी सामाजिक नियम के पालन पर मजबूर न किया जाए और मुझे पूरी तरह स्वतंत्र कर दिया जाए कि इन्हें जिस तरह चाहूं इस्तेमाल करूँ?

यह कहना कि एक मर्द और एक औरत एक साथ मिल कर एक गुप्त स्थान पर सबसे अलग जो आनन्द प्राप्त करते हैं, उसका कोई प्रभाव सामाजिक जीवन पर नहीं पड़ता, केवल बच्चों की सी बात है। वास्तव में इसका प्रभाव केवल उस समाज ही पर नहीं पड़ता, जिससे वे प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं, बल्कि पूर्ण मानव-जाति पर पड़ता है। और

इसके प्रभाव केवल 'आज' तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि आने वाली नस्लों को भी अछूता नहीं छोड़ते। जिस सामूहिक एवं सामाजिक सम्बन्ध में सम्पूर्ण मानवता बँधी हुई है, उससे कोई व्यक्ति, किसी भी दशा में, किसी सुरक्षित स्थान में भी, मुक्त नहीं है। बन्द कमरों में, और चारदीवारी में भी वह उसी तरह सामूहिक जीवन से सम्बद्ध है, जिस तरह बाज़ार अथवा सभा में है। जिस समय वह गुप्त रूप से अपनी सन्तानोत्पादन-शक्ति को एक क्षणिक एवं निष्फल आमोद-प्रमोद पर नष्ट कर रहा है, उस समय वास्तव में वह सामाजिक जीवन में अव्यवस्था फैलाने, मानव-जाति के प्रति अन्याय करने तथा समाज को अगणित नैतिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक क्षति पहुंचाने में लीन होता है। वह अपनी स्वार्थपरायणता से उन तमाम सामाजिक संस्थाओं को चोट पहुंचाता है, जिनसे उसने समाज का एक व्यक्ति होने की हैसियत से लाभ तो उठाया, पर उनके बनाए रखने की जो ज़िम्मेदारी उस पर थी, उसे पूरा करने से इन्कार कर दिया। समाज ने म्युनिसिपैलिटी से लेकर स्टेट तक, स्कूल से लेकर फ़ौज तक, कारख़ानों से लेकर वैज्ञानिक खोज की संस्थाओं तक, जितनी भी संस्थायें स्थापित कर रखी हैं, सब इसी विश्वास पर स्थापित की हैं, कि वह प्रत्येक व्यक्ति, जो उन से लाभ उठा रहा है, उनके बनाए रखने में अपनी ज़िम्मेदारी निभाएगा, पर जब उस बेईमान ने अपनी वासनाओं को इस तरह इस्तेमाल किया कि उसमें सन्तानोत्पादन एवं सन्तति प्रशिक्षण की कदापि कोई नीयत ही न थी, तो उसने एक ही चोट में अपनी हद तक उस सम्पूर्ण व्यवस्था की जड़ काट दी, उसने उस सामाजिक वचन को भंग कर दिया, जिसमें वह ठीक अपने एक मनुष्य होने की हैसियत से शामिल था, उसने अपने सिर का बोझ ख़ुद

उठाने के बजाय दूसरों पर लादने की कोशिश की, वह कोई सज्जन पुरुष नहीं है, बल्कि एक चोर, विश्वासघातक तथा लुटेरा है, उसके साथ नर्मी करना पूरी मानवता पर अत्याचार करना है।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का स्थान क्या है, इस चीज़ को अच्छी तरह समझ लिया जाए तो इस बात में कोई सन्देह नहीं बाक़ी रह सकता कि एक शक्ति जो हमारी आत्मा एवं शरीर में भर दी गई है, केवल हमारे ही लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए हमारे पास धरोहर है और हम उनमें से हरेक के लिए सम्पूर्ण मानवता के प्रति उत्तरदायी हैं। अगर हम स्वयं अपनी जानों को या अपनी शक्तियों में से किसी को नष्ट करते हैं या अपने अनुचित कर्मों से अपने आपको क्षति पहुंचाते हैं, तो हमारे इस कर्म की असली हैसियत यह नहीं है कि जो कुछ हमारे पास है उसको हमने नष्ट किया या हानि पहुंचा दी, बल्कि वास्तव में उसकी हैसियत यह है कि सम्पूर्ण मानव-जगत के लिए जो धरोहर हमारे पास थी, उसमें हमने विश्वासघात किया और अपने इस कर्म से सम्पूर्ण मानव-जाति को क्षति पहुंचाई। हमारा संसार में मौजूद होना स्वयं इस बात पर गवाह है कि दूसरों ने दायित्वों एवं विपत्तियों का बोझ उठा कर जीवन-ज्योति हमारी ओर स्थानान्तरित कर दी, तभी हम इस जगत में आए। फिर राज्य की व्यवस्था ने हमारे प्राणों की रक्षा की। स्वास्थ्य-विभाग हमारे जीवन की हिफ़ाज़त में लगे रहे। लाखों करोड़ों मनुष्यों ने मिल कर हमारी ज़रूरतें पूरी कीं। तमाम सामाजिक संस्थाओं ने मिल कर हमारी शक्तियों को सँवारने और सुधारने की कोशिश की और हमें वह कुछ बनाया, जो हम हैं। क्या उन सबका यह उचित बदला होगा? क्या यह न्याय होगा कि जिस आत्मा तथा जिन शक्तियों के अस्तित्व, स्थायित्व एवं विकास में दूसरों का

इतना भाग है, उसको हम नष्ट कर दें या लाभप्रद बनाने के बजाय हानिप्रद बना दें? आत्म-हत्या इसी वजह से हराम है। हस्त-मैथुन करने वाले को इसी कारण संसार के सबसे बड़े ज्ञानी ने अभिशप्त कहा है। सहजातीय-काम-क्रिया को इसी आधार पर निःकृष्टतम अपराध घोषित किया गया है और ज़िना भी इसी वजह से वैयक्तिक मनोरंजन या आमोद-प्रमोद नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज पर अत्याचार है।

सोचिए, ज़िना के साथ कितने सामूहिक अत्याचार का नज़दीकी और गहरा नाता है।

१—सबसे पहले एक व्यभिचारी अपने आपको संक्रामक रोगों के संकट में फँसा देता है। और इस प्रकार न केवल अपनी शारीरिक शक्तियों की सामाजिक उपयोगिता में बाधा डालता है, बल्कि समाज तथा नस्ल को भी क्षति पहुंचाता है। सूज़ाक (प्रमेह) के सम्बन्ध में प्रत्येक वैद्य आपको बता देगा कि मूत्र-स्थान का यह घाव कदाचित ही पूरी तरह भरता हो। एक बड़े डाक्टर का कथन है, 'एक बार सूज़ाक, सर्वदा के लिए सूज़ाक,' जिससे जिगर, (यकृत) मसाना, (मूत्राशय) अण्डकोष आदि अवयव भी कभी-कभी आघातग्रस्त हो जाते हैं। गठिया और दूसरे रोग का भी यह कारण बन जाता है। इससे स्थाई रूप से बांझपन पैदा हो जाने की आशंका रहती है और यह रोग संक्रामक भी होता है। रहा आतशक (उपदंश) तो किसी को शायद ज्ञात नहीं कि उससे सम्पूर्ण शरीर-व्यवस्था विषाक्त हो जाती है। सिर से पांव तक कोई अवयव, बल्कि शरीर का कोई अंग ऐसा नहीं, जिसमें उसका विष न पहुँच जाता हो। वह स्वयं रोगी की शारीरिक शक्तियों को विनष्ट कर देता है, बल्कि एक व्यक्ति से न जाने कितने व्यक्तियों

तक विभिन्न साधनों से पहुंच जाता है। फिर इसके कारण रोगी की सन्तान, तथा सन्तान की सन्तान तक निरपराध दण्ड की भागी बनती है। बच्चों का अन्धा, गूँगा, बहरा, मन्दबुद्धि उत्पन्न होना मनोविनोद की उन कुछ घड़ियों का एक साधारण फल है, जिन्हें अत्याचारी पिता ने अपने जीवन की प्रिय पूँजी समझा था।

२—संक्रामक रोगों में तो प्रत्येक व्यभिचारी का फँस जाना ज़रूरी नहीं है, परन्तु उन नैतिक त्रुटियों से किसी का बचना सम्भव नहीं, जो इस क्रिया से अनिवार्य रूप से सम्बन्ध रखती हैं। निर्लज्जता, धूर्तता, छल-कपट, झूठ, दुराशय, स्वार्थपरायणता, वासनाओं की दासता, कामुकता तथा आवारापन, स्वभाव में स्थान-स्थान पर विलासीपन, विश्वासघात एवं कुटिलता, ये सब ज़िना के वे नैतिक प्रभाव हैं जो स्वयं व्यभिचारी की अन्तरात्मा पर पड़ते रहते हैं। जो व्यक्ति इन विशेषताओं को अपने भीतर पालता है, उसके दोषों का प्रभाव केवल जातीय मामलों तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि जीवन के प्रत्येक विभाग में उसकी ओर से यही उपहार समाज को मिलता है। अगर समाज में अधिक लोगों के भीतर ये दुर्गुण विकसित हो रहे हों, तो उनके कारण कला व साहित्य, मनोरंजन व क्रीड़ा, ज्ञान व विज्ञान, कला व कौशल, समाज व अर्थव्यवस्था, नीति व न्याय, सामरिक सेनायें व राज्य-व्यवस्था, तात्पर्य यह कि प्रत्येक अंग न्युनाधिक प्रभावित होकर रहेगा मुख्यतः जनतन्त्र-व्यवस्था में तो व्यक्तियों की एक-एक नैतिक विशेषता का समूचे राष्ट्र को प्रभावित करना निश्चित है। जिस राष्ट्र के अधिक व्यक्तियों के स्वभाव में कोई स्थायित्व एवं स्थिरता न हो और जिस राष्ट्र के अधिकतर सदस्य श्रद्धा से, त्याग से और मनोकामनाओं पर क़ाबू रखने की विशेषताओं से रहित हों,

उसकी राजनीति में दृढ़ता आख़िर आएगी कहां से?

३—ज़िना को वैद्य स्वीकार करने के साथ यह भी अनिवार्य हो जाता है कि समाज में व्यभिचार का कारोबार जारी रहे। जो व्यक्ति यह कहता है कि एक नवयुवक को 'भोग-विलास' का अधिकार मिला हुआ है, वह मानो साथ ही यह कहता है कि सामाजिक जीवन में एक बड़ा वर्ग ऐसी स्त्रियों का बना रहना चाहिए जो हर हैसियत से घोर अधमता एवं नीचता की स्थिति में हों, आख़िर ये स्त्रियां आयेंगी कहां से? इसी समाज ही में से तो पैदा होंगी, बहरहाल किसी की बहन या बेटी ही तो होंगी। वे लाखों औरतें, जो एक-एक घर की स्वामिनी, एक-एक कुटुम्ब की संस्थापिका, कई-कई बच्चों की पोषिता बन सकती थीं इन्हीं को तो लाकर बाज़ार में बिठाना पड़ेगा, ताकि नगर पालिका के शौचालयों की भांति वे मनचले नवयुवकों की वासनाओं की पूर्ति का साधन बनें, उनसे सतीत्व की समस्त उत्तम विशेषतायें छीन ली जायें, उन्हें क्रय-विक्रय के लिए प्रशिक्षित किया जाए, उन्हें इस उद्देश्य के लिए तैयार किया जाए कि अपना प्रेम, अपना हृदय, अपना शरीर, अपना सौंदर्य और अपनी छटाओं को प्रतिक्षण नए-नए ख़रीदार के हाथ बेचें और कोई फलदायक एवं लाभप्रद सेवा करने के स्थान पर आजीवन दूसरों की वासनाओं का खिलौना बनी रहें।

४—ज़िना के औचित्य से विवाह के सांस्कृतिक प्रतिबन्ध को निश्चय ही आघात पहुंचता है, बल्कि फलस्वरूप विवाह समाप्त होकर ज़ेना ही ज़िना बाक़ी रह जाती है। प्रथम यह कि व्यभिचारी प्रवृति रखने वाले औरत-मर्दों में यह क्षमता बहुत ही कम बाक़ी रह जाती है कि शुद्ध दाम्पत्य जीवन बिता सकें, क्योंकि जो दुर्भावना, दुराशय, आमोद-प्रमोद तथा आवारापन इस तरह से उत्पन्न होता है और ऐसे

लोगों में भावनाओं की जो अस्थिरता तथा वासनाओं पर क़ाबू न रखने की जो त्रुटि विकसित होने लगती है वह उन विशेषताओं के लिए घातक विष है, जो एक सफल दाम्पत्य जीवन के लिए आवश्यक हैं। वे अगर दाम्पत्य जीवन के बन्धन में बँधेंगे भी, तो उसके बीच वह सद्व्यवहार, वह संयोग, वह पारस्परिक विश्वास और वह दया एवं कृपा का नाता कभी दृढ़ न होगा, जिससे अच्छी नस्ल पैदा होती है और एक 'हर्षमय घर' का जन्म होता है। फिर जहां ज़िना की सुविधायें हों, वहां, व्यवहार रूप से यह असम्भव है कि विवाह की समाज-पोषक परम्परा बाक़ी रह सके, क्योंकि जिन लोगों को, ज़िम्मेदारियों के भार को उठाए बिना, वासनाओं की तृप्ति के अवसर प्राप्त हों, उन्हें क्या ज़रूरत पड़ी है कि विवाह करके अपने सिर पर भारी ज़िम्मेदारियों का बोझ लाद लें?

५—ज़िना के औचित्य एवं रीति से न केवल संस्कृति की जड़ कटती है, बल्कि स्वयं मानव-नस्ल की भी जड़ कटती है। जैसाकि पहले सिद्ध किया जा चुका है निर्बाध जातीय सम्बन्ध में औरत और मर्द दोनों में से किसी की भी यह इच्छा नहीं हो सकती कि मानव-जाति के स्थायित्व की सेवा को पूरा करे।

६—ज़िना से जाति एवं समाज को अगर बच्चे मिलते भी हैं तो हरामी बच्चे होते हैं। वंश में हलाल और हराम का फ़र्क़ एक भावुकतायुक्त वस्तु नहीं हैं जैसाकि कुछ अज्ञानी सोचते हैं, वास्तव में अनेकों हैसियत से हराम का बच्चा पैदा करना स्वयं बच्चे पर और सम्पूर्ण मानव-संस्कृति पर एक घोर अत्याचार है। प्रथम तो ऐसे बच्चे का वीर्य उस अवस्था में ठहरता है, जबकि माता और पिता दोनों पर विशुद्ध पाशविक भावनाओं का आधिपत्य होता है। एक विवाहित

दम्पति में संभोग के समय जो पवित्र मानव-भावनायें होती हैं, वह अवैध सम्बन्ध रखने वाले जोड़े को कभी प्राप्त ही नहीं हो सकतीं, उनको तो एकमात्र पाश्विकता का जोश एक-दूसरे से मिलाता है, और उस समय सम्पूर्ण मानव विशेषताओं का बहिष्कार हो जाता है। अतएव एक हरामी बच्चा स्वभावतः अपने माता-पिता की पाश्विकता ही का उत्तराधिकारी होता है, फिर यह बच्चा जिसकी आवभगत करने के लिए, न माता तैयार हो, न पिता, जो एक आकस्मिक घटना के रूप में माता-पिता के मध्य आया हो, जिस को पिता का प्रेम तथा उसके साधन साधारणतया प्राप्त न हों, जो केवल माता का एकांगीय प्रशिक्षण पाए, और वह भी ऐसा, जिसमें खिन्नता एवं अप्रसन्नता सम्मिलित हो, जिसको दादा, दादी, नाना, नानी, चाचा, मामा अन्य परिवार वालों का संरक्षण न प्राप्त हो, वह बहरहाल एक अपूर्ण एवं दोषयुक्त मनुष्य ही बनकर उठेगा। न उसका शुद्ध आचरण बन सकेगा, न उसकी क्षमताएँ निखर सकेंगी, न उसकी उन्नति एवं विकास के समस्त साधन प्राप्त हो सकेंगे। वह स्वतः अपूर्ण, विवश, निष्क्रिय एवं अभिशप्त होगा तथा संस्कृति के लिए भी किसी प्रकार उतना लाभप्रद न बन सकेगा, जितना वह हलाली होने की सूरत में हो सकता था।

बेरोक-टोक ज़िना के समर्थक कहते हैं कि बच्चों की देख-रेख व शिक्षा-दीक्षा के लिए एक राष्ट्रीय व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि बच्चों को उनके माता-पिता अपने निर्वाध सम्बन्ध से जन्म दें और राष्ट्र इनको पाल-पोस कर संस्कृति की सेवा के लिए तैयार करे। इस प्रस्ताव से उन लोगों का उद्देश्य यह है कि औरतों और मर्दों की स्वतंत्रता और उनकी वैयक्तिकता सुरक्षित रहे तथा उनकी वासनाओं को विवाह के प्रतिबन्धों में जकड़े बिना सन्तानोत्पादन एवं बाल-शिक्षा

का उद्देश्य प्राप्त कर लिया जाए। पर यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि जिन लोगों को आधुनिक नस्ल का व्यक्तित्व इतना प्रिय है, वे भावी नस्ल के लिए राष्ट्रीय शिक्षा अथवा सरकारी प्रशिक्षण की ऐसी प्रणाली प्रस्तावित करते हैं, जिसमें वैयक्तिकता के विकास तथा व्यक्तित्व को प्रगति की कोई सूरत नहीं है। इस प्रकार की एक प्रणाली में जहां हज़ारों-लाखों बच्चे एक ही समय में एक नक़्शे, एक सांचे और एक ही ढंग पर तैयार किये जायें, बच्चों का वैयक्तिक-व्यक्तित्व कभी उभर और कभी निखर ही नहीं सकता। वहां तो उनमें अधिक से अधिक एकांकी एवं कृत्रिम समता पैदा होगी। इस कारख़ाने से बच्चे उसी प्रकार एक समान व्यक्तित्व लेकर उभरेंगे जिस प्रकार किसी बड़ी फैक्ट्री से लोहे के पुर्ज़े एक प्रकार के ढले हुये निकलते हैं। विचार तो करो, मानव के सम्बन्ध में इन निर्बुद्धि लोगों की धारणा कितनी नीच तथा घटिया है। ये बाटा के जूतों की भांति मनुष्यों को तैयार करना चाहते हैं। इनको मालूम नहीं कि बच्चों के व्यक्तित्व को तैयार करना एक अति ललित कला है। यह कला एक ऐसे छोटे से चित्र-गृह ही में पूर्ण हो सकती है, जहां प्रत्येक चित्रकार का ध्यान एक-एक चित्र पर केन्द्रित हो। एक बड़ी फैक्ट्री में जहां किराये के मज़दूर एक ही प्रकार के चित्र लाखों की संख्या में तैयार करते हों, यह कला नष्ट होगी, न कि उन्नति करेगी।

फिर राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षा की इस प्रणाली में आपको बहरहाल ऐसे कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होगी, जो समाज की ओर से बच्चों के लालन-पालन का काम सम्भालें; और यह भी स्पष्ट है कि इस काम को पूर्ण करने के लिये ऐसे ही कार्यकर्त्ता उपयुक्त हो सकते हैं, जो अपनी भावनाओं एवं इच्छाओं पर क़ाबू रखते हों तथा जिनमें स्वयं नैतिक

संयम पाया जाता हो, वरन् वे बच्चों में संयम कैसे उत्पन्न कर सकेंगे। अब प्रश्न यह है कि ऐसे मनुष्य आप लायेंगे कहां से? इस प्रकार जब अपने समाज में से नैतिक संयम एवं इच्छाओं को वश में करने की क्षमताओं का बीज ही मार दिया जाये तो अन्धों की बस्ती में आंखों वाले प्राप्त कहां होंगे कि वे नई नस्लों को देख कर चलना सिखायें?

७—ज़िना के ज़रिए एक स्वार्थी व्यक्ति जिस औरत को बच्चे की माता बना देता है, उसका जीवन सदा के लिए भ्रष्ट हो जाता है तथा उसपर तिरस्कार, जन-घृणा एवं विपत्तियों का ऐसा पहाड़ टूट पड़ता है कि जीते जी वह उसके बोझ तले से नहीं निकल सकती। नये नैतिक सिद्धान्तों ने इस कठिनाई का यह हल निकाला है कि प्रत्येक मातृत्व को समान हैसियत दे दी जाये—भले ही वह विवाह के बन्धन में बंध कर हो या मुक्त रह कर—कहा जाता है मातृत्व प्रत्येक अवस्था में अदा करने योग्य है और यह कि जिस लड़की ने अपने भोलेपन से या असावधानी से माता बनने का दायित्व स्वीकार कर लिया, उस पर यह अन्याय है कि समाज में उसे निन्दित किया जाये, परन्तु एक तो यह हल ऐसा है कि इस में व्यभिचारिणी स्त्री के लिए चाहे कितनी ही आसानी हो, समाज के लिए सामूहिक रूप से सर्वथा आपत्ति ही आपत्ति है। समाज, स्वभावतः हरामी बच्चे की माता को जिस घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, वह एक ओर व्यक्ति को पाप एवं व्यभिचार से रोकने के लिए एक बड़ी बाधा है और दूसरी ओर वह स्वयं समाज में भी नैतिक भावना के जाग्रत होने का चिन्ह है। यदि हरामी बच्चे की माता और हलाली बच्चे की माता को समान समझा जाने लगे, तो इसका अर्थ यह है कि समाज से सत्-असत, भलाई और बुराई, पाप-पुण्य का भेद-भाव समाप्त हो गया। फिर अगर इसकी कल्पना भी कर

ली जाये तो क्या इससे वास्तव में वे कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी जो हरामी बच्चे की माता के लिए पैदा हो जाती हैं। तुम अपने दृष्टिकोण से हराम और हलाल दोनों प्रकार के मातृत्व को समान कह सकते हो, परन्तु प्रकृति इन दोनों को समान नहीं समझती और वास्तव में वे कभी समान हो भी नहीं सकते, उनकी समानता, बुद्धि, तर्क, न्याय, तथ्य प्रत्येक वस्तु के प्रतिकूल है। आख़िर वह विवेकशून्य स्त्री, जिसने वासनाओं की सामयिक प्रेरणा के वशीभूत अपने आप को एक ऐसे स्वार्थी पुरुष के सुपुर्द कर दिया जो उसके और उसके बच्चे के संभरण का दायित्व लेने के लिए तैयार न था, इस बुद्धिवती के समान किस प्रकार हो सकती है, जिसने अपनी भावनाओं को उस समय तक वश में रखा, जब तक कि उसे एक सज्जन तथा कर्तव्यपरायण व्यक्ति न मिल गया? कौन-सी बुद्धि इन दोनों को समान कह सकती है? तुम चाहो तो दिखाने के लिए उन्हें समान कह दो, परन्तु तुम उस विवेकशून्य स्त्री को, वह संभरण एवं संरक्षण, वह सहृदय सहवास, वह प्रेमपूर्ण देख-रेख और वह शांति एवं तुष्टि कहां से दिलवाओगे जो केवल एक पतिव्रता स्त्री ही को मिल सकती है? तुम उसके बच्चे को पिता के प्रेम तथा पूरे पितृ-कुल की दया व कृपा को किस बाज़ार से लाओगे? अधिक से अधिक तुम क़ानून के बल पर उसको रोटी-कपड़ दिलवा सकते हो परन्तु क्या एक माता और एक बच्चे को संसार मे केवल रोटी-कपड़े ही की आवश्यकता हुआ करती है? अतएव यह एव तथ्य है कि हराम व हलाल के मातृत्व को समान कर देने से पाप करने वालियों को बाह्य सान्त्वना, चाहे कितनी ही मिल जाए, बहरहाल यह वस्तु उनको उनकी मूर्खता के प्राकृतिक परिणामों से और उनके बच्चे को इस प्रकार के जन्म की वास्तविक हानियों से नहीं बचा सकती।

इन कारणों से यह बात सामाजिक जीवन की स्थापना एवं उचित विकास के लिए महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से है कि समाज में जातीय प्रक्रिया की अव्यवस्था को अनिवार्य रूप से रोक दिया जाए और वासनाओं की तृप्ति के लिए केवल एक ही द्वार 'दम्पति' का द्वार खोला जाए। इन्सानों को ज़िना की स्वतंत्रता देना उनके साथ अनुचित रियायत और समाज पर अत्याचार, बल्कि समाज की हत्या है। जो समाज इस मामले को तुच्छ समझता है और ज़िना को केवल व्यक्तियों का 'प्रसन्न समय' समझ कर नज़रें बचा जाता है और 'स्वतंत्र बीजारोपण' के साथ उदारता दिखाने के लिए तैयार है, वह वास्तव में एक मूर्ख समाज है, उसको अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं है, वह अपने साथ शत्रुता करता है, अगर उसे अपने अधिकारों का ज्ञान हो और वह जाने और समझे कि जातीय सम्बन्धों के मामले में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रभाव सामाजिक हित व कल्याण पर क्या पड़ते हैं, तो वह इस मामले को इसी दृष्टि से देखे, जिससे चोरी, डाका और हत्या को देखता है, बल्कि यह चोरी से भी महत्वपूर्ण है। चोर, हत्यारे और डाकू अधिक से अधिक एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को क्षति पहुंचाते हैं, परन्तु व्यभिचारी सम्पूर्ण समाज पर और उसकी आगामी नस्लों पर डाका डालता है। वह एक ही समय में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की चोरी करता है, उसके अपराध के परिणाम उन सब अपराधों से अधिक दूरगामी और अधिक विस्तृत हैं। जब यह मान्य है कि व्यक्तियों के स्वार्थयुक्त हस्तक्षेपों के मुक़ाबले में समाज की सहायता के लिए क़ानून की ताक़त होनी चाहिए और जब इसी आधार पर चोरी, क़त्ल, लूट मार, धूर्तता, तथा स्वत्व-हरण के दूसरे ढंगों को अपराध समझ कर क़ानून के बल पर रोक-थाम की जाती है, तो कोई कारण नहीं कि

जिना के मामले में क़ानून समाज का संरक्षक न हो और उसे वैधानिक अपराध न स्वीकार किया जाए।

सैद्धान्तिक रूप से भी यह खुली हुई बात है कि विवाह एवं व्यभिचार दोनों एक ही समय में एक सामाजिक-व्यवस्था के अंग नहीं बन सकते। अगर एक व्यक्ति के लिए दायित्व अपनाए बिना वासनाओं की पूर्ति को वैध माना जाए, तो इसी काम के लिए विवाह का नियम बनाना एकमात्र निरर्थक है। यह बिल्कुल ऐसा ही है जैसे रेल में बिना टिकट की यात्रा वैध भी स्वीकार की जाए और फिर यात्रा के लिए टिकट का नियम भी बनाया जाए। कोई बुद्धिमान व्यक्ति इन दोनों तरीक़ों को एक ही समय में नहीं अपना सकता। उचित तरीक़ा तो यही है कि या तो टिकट का नियम सिरे से उड़ा दिया जाए या अगर नियम बनाना ही है तो बिना टिकट यात्रा करने वालों को अपराधी समझा जाए। इसी तरह विवाह व व्यभिचार के मामले में दोनों पहलुओं का अपनाना निश्चय ही अनुचित वस्तु है। अगर संस्कृति के लिए विवाह का प्रतिबन्ध आवश्यक है, जैसा कि पहले प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, तो उसके साथ यह भी आवश्यक है कि व्यभिचार को अपराध घोषित किया जाए।[१]

---

१. एक सामान्य भ्रम यह है कि विवाह से पहले एक युवक को वासनाओं को पूरा करने का थोड़ा बहुत अवसर प्राप्त होना चाहिए। क्योंकि युवावस्था में भावनाओं की रेल-पेल को रोकना कठिन है और यदि रोका जाए तो स्वास्थ्य को क्षति पहुँचती है। परन्तु इस परिणाम की नींव ही सर्वथा ग़लत है। भावनाओं की ऐसी रेल-पेल जो रोकी न जा सके, एक असाधारण अवस्था है और साधारण मनुष्यों में यह अवस्था केवल इस कारण पैदा होती है कि एक ग़लत संस्कृति-व्यवस्था उनको बलात् इस पर उभारती है। हमारे सिनेमा, हमारा साहित्य, हमारे चित्र, हमारा संगीत तथा इस मिश्रित समाज में बनी-ठनी

अज्ञानता के लक्षणों में से यह भी एक स्पष्ट लक्षण है कि जिन वस्तुओं के परिणाम सीमित होते हैं और शीघ्र अनुभव में आने लगते हैं, उनको तो सामने रख लिया जाता है, परन्तु जिनके परिणाम विस्तृत एवं दूरगामी होने के कारण अव्यक्त होते हैं तथा देर में प्रकट हुआ करते हैं, उन्हें कोई महत्व नहीं दिया जाता, बल्कि विचार करने योग्य भी नहीं समझा जाता है। चोरी, क़त्ल और डकैती जैसे मामलों को महत्वपूर्ण और व्यभिचार को अमहत्वपूर्ण समझने का कारण यही है। जो व्यक्ति अपने घर में प्लेग के चूहे इकट्ठा करता है या महामारी फैलाता है, अज्ञानी संस्कृति उसको तो क्षम्य नहीं समझती, क्योंकि उसका यह काम स्पष्ट रूप से हानिकारक नज़र आता है। परन्तु जो व्यभिचारी अपनी स्वार्थपरायणता से संस्कृति की जड़ काटता है, उसकी हानियां, चूंकि अनुभूत होने के बजाए बुद्धिसंगत हैं, इसलिए वह अज्ञानियों की हर रियायत का हक़दार नज़र आता है। बल्कि उनकी समझ में यह आता ही नहीं, कि इस काम में अपराध की

स्त्रियों का प्रत्येक स्थान पर पुरुषों से संघर्षित होना, यही वे साधन हैं जो अनजाने रूप से साधारण मनुष्यों को वासनाओं के सम्बन्ध में असाधारण बना देते हैं, वरन् एक शान्तिमय वातावरण में, साधारण नर-नारियों में ऐसी कोलाहल का सामना कभी करना नहीं पड़ सकता कि मानसिक एवं नैतिक प्रशिक्षण से उस पर प्रतिबन्ध न लगाया जा सके और यह विचार, कि युवावस्था में जातीय प्रक्रिया न होने से स्वास्थ्य को क्षति पहुँचती है, अतएव स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए परस्त्रीगमन होना चाहिए, एक भ्रान्त के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वास्तव में स्वास्थ्य एवं नैतिकता दोनों के संरक्षण के लिए आवश्यक है कि सामाजिकता की उस अशुद्ध व्यवस्था एवं समृद्धि जीवन के अशुद्ध मापदण्डों को बदल दिया जाए, जिनके कारण विवाह कठिन और व्यभिचार सरल हो कर रह गया है।

आख़िर कौन-सी बात है। यदि संस्कृति की नींव अज्ञानता के स्थान पर विवेक एवं प्रकृति-ज्ञान पर हो तो यह कार्य-पद्धति कदापि न अपनाई जाए।

(४) व्यभिचार की रोक थाम

संस्कृति के लिए ज़ो काम हानिकारक हो, उसको रोकने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि इसे बस क़ानूनन जुर्म मान लिया जाए और उसके लिए एक सज़ा मुक़र्रर कर दी जाए, बल्कि उसके साथ चार प्रकार के और भी उपाय करने जरूरी हैं।

एक़ यह कि शिक्षा-दीक्षा द्वारा व्यक्तियों की मनोवृत्ति ठीक की जाये और उनकी मनोभावनाओं में इस हद तक सुधार किया जाए कि वे स्वयं इस काम से घृणा करने लगें, इसे पाप समझें, और उन की अपनी नैतिक अन्तःप्रेरणा उन्हें इस में फंसने से थामे रखे।

दूसरे यह कि सामूहिक आचरण और जन-मत को इस पाप या अपराध के विरुद्ध इस हद तक तैयार कर दिया जाये कि जन-साधारण इसे दोष एवं लज्जास्पद काम समझने और उसमें लिप्त होने वाले को घृणा की दृष्टि से देखने लगें, ताकि जिन व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा अपूर्ण रह गई हो, उन्हें जन-मत की शक्ति अपराध करने से रोक सके।

तीसरे यह कि संस्कृति-व्यवस्था में ऐसे समस्त-साधनों की रोक-थाम कर दी जाए जो उस अपराध को बढ़ावा देने वाले और उसकी ओर प्रेरणा एवं प्रलोभन दिलाने वाले हों। और उसके साथ ही उन साधनों को भी यथासम्भव समाप्त कर दिया जाए, जो व्यक्तियों को इस कर्म पर बाध्य करने वाले हों।

चौथे यह कि सांस्कृतिक जीवन में ऐसी बाधायें और कठिनाइयां पैदा कर दी जायें कि अगर कोई व्यक्ति इस अपराध को करना भी चाहे, तो आसानी से न कर सके।

ये चारों उपाय ऐसे हैं जिन के सही होने पर और जिनकी ज़रूरत पर अक़्ल गवाह है, प्रकृति उसकी मांग करती है और व्यावहारिक रूप से सम्पूर्ण विश्व का रवैया भी यही है कि समाज का क़ानून जिन-जिन चीज़ों को अपराध मान लेता है, उन सब को रोकने के लिए क़ानून के अलावा ये चारों उपाय कम व ज़्यादा अवश्य ही अपनाये जाते हैं। अब अगर यह मान्य है कि काम-सम्बन्धों का फैलाव संस्कृति के लिए घातक है और समाज में एक भीषण अपराध की हैसियत रखता है, तो निश्चय ही यह भी मानना पड़ेगा, कि उसे रोकने के लिए क़ानून के साथ-साथ वे सभी सुधार करने वाले और रोक थाम करने वाले उपाय अपनाने ज़रूरी हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसके लिए व्यक्तियों की ट्रेनिंग भी होनी चाहिए, जन-मत को भी इसके विरोध के लिए तैयार करना चाहिए, संस्कृति के क्षेत्र से उन तमाम चीज़ों को निष्कासित भी करना चाहिए, जो व्यक्तियों की काम सम्बन्धी भावनाओं को उत्तेजित करती हैं। समाज-व्यवस्था से उन बाधाओं को भी दूर करना चाहिए जो विवाह के सामने कठिनाइयाँ पैदा करती हैं और मर्दों और औरतों के सम्बन्धों पर ऐसी पाबन्दियाँ लगानी चाहिएं कि अगर वे दाम्पत्य-क्षेत्र के बाहर ताल्लुक़ात पैदा करने की ओर झुकें तो उनके रास्ते में बहुत बड़ी-बड़ी रुकावटें खड़ी हो जायें। ज़िना को अपराध और पाप मान लेने के बाद कोई अक़्लमन्द इन उपायों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कह सकता।

कुछ लोग उन तमाम नैतिक एवं सामाजिक सिद्धांतों को मानते हैं,

जिनके आधार पर ज़िना को पाप समझा गया है। परन्तु उन को अपनाने के बजाए सिर्फ़ सुधार के उपायों पर भरोसा करना चाहिए। वे कहते हैं कि शिक्षा-दीक्षा द्वारा लोगों में आन्तरिक भावना, उनके अन्तःकरण की आवाज़ में इतनी शक्ति, तथा उनकी नैतिक प्रेरणाओं में इतनी प्रबलता उत्पन्न कर दो कि वे ख़ुद इस पाप से रुक जायें वरन् मन के सुधार के स्थान पर क़ानून और रोकथाम के उपायों के अपनाने का अर्थ तो यह होगा कि तुम मनुष्य के साथ बच्चों का सा व्यवहार करते हो, बल्कि मानवता का अपमान करते हो।

हम भी उनके कथन को इस हद तक स्वीकार करते हैं कि मानवता के सुधार का उत्तम व श्रेष्ठ तरीक़ा यही है जो वे कहते हैं। सभ्यता का उत्कर्ष वास्तव में यही है कि व्यक्तियों के अन्तःकरण में ऐसी शक्ति पैदा हो जाए, जिससे वे सब ख़ुद ही समाज के क़ानूनों का आदर करने लगें और ख़ुद ही उनका अपना अन्तःकरण उनको नैतिक बन्धनों के विरुद्ध चलने से रोक दे। इसी ध्येय के लिए व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा पर सारा बल लगा दिया जाता है। परन्तु क्या वास्तव में सभ्यता अपने इसी उत्कर्ष को पहुंच चुकी है? क्या वास्तव में शिक्षा एवं नैतिक प्रशिक्षण के साधनों द्वारा समाज के व्यक्तियों को इतना सभ्य बनाया जा चुका है कि उनके अन्तःकरण पर पूर्ण विश्वास किया जा सकता हो और सामूहिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए वाह्य संसार में किसी रोक-थाम के तरीक़े और क़ानून की ज़रूरत न रह गई हो? पुराने ज़माने की बात छोड़िए कि आपके कहने के अनुसार 'अन्धा युग' था। यह बीसवीं शताब्दी, यह 'प्रकाशमान युग' आपके सामने मौजूद है। इस युग में यूरोप और अमेरीका के सभ्यतम देशों को देख लीजिए, जिनका हर व्यक्ति पढ़ा-लिखा है, जिनको अपने नागरिकों के उच्च प्रशिक्षण पर

गर्व है। क्या वहां शिक्षा और अन्तःकरण के सुधार ने अपराधों और अवज्ञाओं को रोक दिया है? क्या वहां चोरियां नहीं होती? डाके नहीं पड़ते? क़त्ल नहीं होते? छल-कपट, अन्याय एवं अव्यवस्था की घटनायें नहीं घटतीं? क्या वहां पुलिस, अदालत, जेल, देख-रेख, जाँच-पड़ताल, किसी बात की भी ज़रूरत बाक़ी नहीं रहती? क्या वहाँ व्यक्तियों में नैतिक दायित्व इतना अधिक महसूस किया जाने लगा है कि अब उनके साथ 'बच्चों' जैसा व्यवहार नहीं किया जाता? अगर वास्तविकता यह नहीं है, अगर इस 'प्रकाशमान युग' में भी समाज के संगठन और क़ानून को केवल व्यक्तियों की नैतिक अन्तःप्रवृत्ति पर नहीं छोड़ा जा सकता है, अगर अब भी हर जगह 'मानवता का यह अपमान' हो रहा है कि अपराधों की रोक-थाम के लिये क़ानून और रोक-थाम के उपायों को प्रयोग में लाया जाता है, तो आख़िर क्या कारण है कि केवल लैंगिक सम्बन्ध ही के मामले में क्यों इन 'बच्चों' जैसे व्यवहार किये जाने पर आप आग्रह और इतना आग्रह है? तनिक मन टटोल कर देखिए, कहीं कोई चोर तो छिपा हुआ नहीं है?

कहा जाता है कि जिन वस्तुओं को तुम कामोद्दीपक समझ कर संस्कृति-क्षेत्र से अलग करना चाहते हो, वे तो सब कला और सौन्दर्य प्रेम की जान हैं। उन्हें निकाल देने से तो मानव-जीवन में माधुर्य स्रोत ही शुष्क होकर रह जाएगा, इस लिए तुम्हें संस्कृति की सुरक्षा तथा समाज का सुधार जो कुछ भी करना है, इस प्रकार करो कि ललित कलाओं एवं सौन्दर्य-प्रेम को ठेस न लगने पाये। हम भी इन महानुभावों से इस हद तक सहमत हैं, कि कला एवं सौन्दर्य-प्रेम वास्तव में बहुमूल्य वस्तुयें हैं, जिन की रक्षा बल्कि उन्नति अवश्य होनी चाहिए, परन्तु सोसाइटी का जीवन तथा समूह का कल्याण इन सब से अधिक

बहुमूल्य है। उसको किसी कला एवं किसी अभिरुचि पर निछावर नहीं किया जा सकता। कला एवं सौन्दर्य को यदि फलना-फूलना है, तो अपने लिए उन्नति एवं विकास का वह मार्ग ढूंढे, जिसमें वह सामूहिक जीवन एवं हित से मेल खा सके, जो कला और सौन्दर्य-प्रेम के स्थान पर विनाश, और कल्याण के स्थान पर अव्यवस्था की ओर ले जाने वाला हो, उसे समाज-क्षेत्र में कदापि फलने-फूलने का अवसर नहीं दिया जा सकता, यह कोई हमारा व्यक्तिगत एवं निजी सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यही ज्ञान और प्रकृति की मांग है। पूरी दुनिया इस को सिद्धान्त की हैसियत से मान चुकी है और इसी पर हर जगह काम भी हो रहा है। जिन चीज़ों को भी संसार में सामाजिक जीवन के लिये घातक एवं अशान्ति फैलाने वाला समझा जाता है, उन्हें कहीं कला एवं सौन्दर्य-प्रेम के लिये पसन्द नहीं किया जाता, उदाहरण के तौर पर जो साहित्य, अशान्ति, एवं अव्यवस्था तथा हत्या एवं लूट-मार पर उभारता हो, उसे कहीं भी केवल उसके साहित्यिक गुणों की ख़ातिर वैध नहीं समझा जा सकता। जिस साहित्य में ताऊन या हैज़ा फैलाने का प्रलोभन मिले, उसे कहीं सहन नहीं किया जा सकता, जो सिनेमा या थियेटर शान्तिभंग एवं क्रान्ति पर उभारता हो, उसको संसार का कोई भी राज्य पब्लिक में लाने की आज्ञा नहीं देता। जो चित्र अत्याचार, अशान्ति एवं अव्यवस्था की भावनाओं के प्रकाशक हों या जिनमें चरित्र एवं आचरण का हरण होता हो, भले ही वे कला की पराकाष्ठा को क्यों न पहुंच गए हों, कोई क़ानून और किसी भी समाज का अन्तःकरण उनको आदर की दृष्टि से देखने के लिए तैयार नहीं होता। जेब काटने की कला यद्यपि एक अति ललित कला है, और हाथ की सफ़ाई की कला इससे अच्छे अन्दाज़ में शायद ही कहीं पाई जाती हो, परन्तु कोई

उसका फलना-फूलना देख नहीं सकता। जाली नोट और चेक और दस्तावेज़ें तैयार करने में आश्चर्यजनक प्रवीणता एवं योग्यता दिखाई जाती है, परन्तु कोई इस कला की उन्नति को फूटी आंखों भी देखना नहीं चाहता। ठगी में भी मानव-मस्तिष्क ने कैसी-कैसी निपुणता दिखाई है, परन्तु कोई सभ्यतम समाज इन निपुणताओं का आदर करने के लिये तैयार नहीं होता। इसलिए यह सिद्धान्त स्वतः मान्य है कि समाज का जीवन, उसकी शान्ति, उस का हित एवं कल्याण, प्रत्येक ललित कला से अधिक बहुमूल्य है और किसी कला पर इसे न्यौछावर नहीं किया जा सकता। हां, मतभेद जिस वस्तु में है वह केवल यह है कि एक वस्तु को हम सामाजिक जीवन एवं कल्याण के लिए हानिप्रद समझते हैं और दूसरे को ऐसा नहीं समझते। अगर इस बात में भी उन का दृष्टिकोण वही हो जाये, जो हमारा है तो उन्हें भी कला एवं सौन्दर्य-प्रेम पर वही प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता का अनुभव होने लगे, जिनकी आवश्यकता का अनुभव हम कर रहे हैं।

यह भी कहा जाता है कि अवैध लैंगिक सम्बन्धों को रोकने के लिए औरतों और मर्दों के बीच पर्दे डालना, वास्तव में उनके चरित्र एवं आचरण पर हमला है। इससे यह पाया जाता है कि मानो समस्त व्यक्तियों को दुराचारी समझ लिया गया है और यह कि ऐसे प्रतिबन्ध लगाने वालों को न अपनी औरत पर विश्वास है, न मर्दों पर। बात बड़ी अच्छी है। परन्तु इस तर्क को तनिक आगे बढ़ाइए। हर ताला जो किसी दरवाज़े पर लगाया जाता है, मानो इस बात का एलान है कि उसके मालिक ने पूरे संसार को चोर समझ रखा है। हर पुलिसमैन का वजूद इस पर गवाह है कि सरकार अपनी प्रजा को बदमाश समझती है। हर लेन-देन में जो दस्तावेज़ लिखवाई जाती है, वह इस बात का प्रमाण है

कि एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को छली-कपटी समझ लिया है। रोक-थाम करने वाला हर वह उपाय, जो अपराध की रोक-थाम के लिए अपनाना पड़ता है, उसके वजूद का अर्थ यह है कि उन सब लोगों को काल्पनिक अपराधी मान लिया गया है, जिन पर इस उपाय का प्रभाव पड़ता हो। इस तर्क के अनुसार तो आप प्रतिक्षण चोर, बदमाश, छली-कपटी और संदिग्ध आचार के व्यक्ति समझे जाते हैं, परन्तु आपके स्वाभिमान को तनिक भी ठेस नहीं लगती, फिर क्या कारण है कि इसी एक मामले में आपकी चेतना इतनी कोमल हो गई है?

असल बात वही है, जिसकी ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। जिन लोगों के मस्तिष्क में प्राचीन नैतिक धारणाओं का बचा-खुचा प्रभाव अभी बाक़ी है, वे व्यभिचार एवं जातीय शिथिलता को बुरा तो समझते हैं, परन्तु इतना अधिक बुरा नहीं समझते कि पूरी तरह उसके रोक-थाम की आवश्यकता का अनुभव करें। इसी कारण सुधार और रोक-थाम के उपायों में हमारा और उनका दृष्टिकोण भिन्न है। यदि प्रकृति की हक़ीक़त उनपर अच्छी तरह स्पष्ट हो जाये और वे इस मामले के सही रूप को समझ लें, तो उन्हें हमारे साथ इस मामले में सहमत होना पड़ेगा कि मनुष्य, जब कि मनुष्य है और उसमें जब तक पाश्विक तत्व मौजूद है, उस समय तक कोई ऐसी संस्कृति, जो व्यक्तियों की इच्छाओं, तथा उसके आनन्द एवं स्वाद से बढ़कर सामूहिक जीवन के कल्याण को प्रिय रखती हो, इन उपायों से ग़ाफ़िल नहीं रह सकती।

(५) दाम्पत्य-जीवन का शुद्ध रूप

परिवार की नींव डालने तथा लैंगिक अव्यवस्था की रोक-थाम करने के बाद एक शुद्ध संस्कृति के लिए जो वस्तु आवश्यक है, वह यह

है कि समाज व्यवस्था में मर्द और औरत के सम्बन्ध की सही शक्ल मुक़र्रर की जाये। उनकी ज़िम्मेदारियां ठीक-ठीक न्याय के साथ बांटी जायें और परिवार में उनके मुद्दों और नित्य के कर्मों को इस प्रकार निर्धारित किया जाए कि सन्तुलन एवं सम्भार में कोई अन्तर न आने पाये। संस्कृति की तमाम समस्याओं में यह समस्या सब से ज्यादा उलझी हुई है, परन्तु मनुष्य को इस गुत्थी को सुलझाने में बहुधा असफलता का सामना करना पड़ा है।

कुछ राष्ट्र ऐसे हैं, जिनमें औरत को मर्द पर 'सरदार' बना दिया गया है। परन्तु हमें एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता कि इस प्रकार के राष्ट्रों में से कोई राष्ट्र संस्कृति एवं सभ्यता के किसी श्रेष्ठतम स्थान को प्राप्त हुआ हो कम से कम ऐतिहासिक जानकारियों के रिकार्ड में तो किसी ऐसे राष्ट्र का निशान नहीं पाया जाता, जिसने औरत को शासक बनाया हो, फिर संसार में सम्मान एवं शक्ति प्राप्त की हो या उसकी ओर से कोई कारनामा हुआ हो। विश्व के अधिक्रतर राष्ट्रों ने मर्द को औरतों पर प्रधानता दी है परन्तु इस प्रधानता ने बहुधा अत्याचार का रूप धारण कर लिया है, औरत को लौंडी बना रखा गया। उसको तुच्छ एवं हीन समझा गया। उसका अपमान किया गया। उसकों किसी प्रकार के आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकार नहीं दिये गये। उसको परिवार में एक तुच्छ सेविका तथा मर्द के लिये विषय-भोग का साधन बना कर रखा गया। और परिवार से बाहर औरतों के एक वर्ग को किसी हद तक ज्ञान एवं सभ्यता के आभूषणों से सुसज्जित किया गया, तो केवल इस लिये कि वे मर्दों की वासनाओं को अति रोचक ढंग से पूरा करें, उनके लिये अपने संगीत से श्रवण स्वाद, अपने नृत्य और अदाओं से दृष्टि-स्वाद और अपने काम-चमत्कारों से शरीर-स्वाद बन जायें। यह औरत

के अपमान एवं हीनता का सबसे अधिक लज्जास्पद पक्ष था, जिसे मर्द की वासनाओं ने जन्माया। और जिन राष्ट्रों ने ये तरीक़े अपनाए, वे स्वयं हानियों से बच न सके।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ने तीसरा तरीक़ा भी अपनाया है अर्थात यह कि मर्दों और औरतों में समानता हो। दोनों की ही ज़िम्मेदारियां समान रूप एवं समान प्रकार की हों, दोनों एक ही कर्म-क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा करें, दोनों अपनी रोज़ी आप कमायें, अपनी ज़रूरतों के ख़ुद ज़िम्मेदार हों, समाज-गठन का यह रूप अभी तक पूरी तरह अपने पूर्णरूप को नहीं प्राप्त हुआ है, क्योंकि मर्द की सरदारी और प्रधानता अब भी स्पष्ट है। जीवन के किसी भी विभाग में औरत मर्द के समान नहीं है और उसको वे तमाम अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं, जो पूर्ण समानता के रूप में उसको मिलने चाहियें। आग्रह इस पर है कि उसके विरुद्ध क़ानून और रोक-थाम के उपायों पर जिस हद तक भी समानता स्थापित की गई है, उसने अभी से संस्कृति-व्यवस्था में बिगाड़ पैदा कर रखा है।

ये तीनों प्रकार की संस्कृतियां, न्याय, सम्मार एवं सन्तुलन से रिक्त हैं, क्योंकि इन्होंने प्रकृति के पथ-प्रदर्शन को समझने और ठीक-ठीक उनके अनुसार कार्य-पद्धति अपनाने में कमी की है। अगर शुद्ध मन के साथ सोचा जाए, तो मालूम होगा कि प्रकृति स्वयं इन समस्याओं का सही हल बता रही है, बल्कि यह भी वास्तव में प्रकृति ही की प्रबल शक्ति है, जिसके प्रभावस्वरूप औरत न तो इस हद तक गिर सकी, जिस हद तक उसे गिराने का प्रयत्न किया गया और न इस हद तक बढ़ सकी, जिस हद तक उसने बढ़ना चाहा या मर्द ने उसे उठाने की कोशिश की। इन दोनों सीमाओं को मनुष्य ने अशुद्ध एवं बहके हुए

विचारों के प्रभाव से अपनाया है, पर प्रकृति न्याय एवं सन्तुलन चाहती है और स्वयं उसका रूप निश्चित करती है।

इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि मनुष्य होने में मर्द और औरत दोनों समान हैं। दोनों मानव-जाति के दो समान अंग हैं। संस्कृति के निर्माण एवं सभ्यता की नींव डालने तथा मानवता की सेवा में दोनों समान रूप से शरीक हैं। हृदय, मस्तिष्क, भावना, इच्छा एवं मानवीय आवश्यकतायें दोनों रखते हैं। संस्कृति के कल्याण एवं हित के लिए दोनों की मानसिक शुद्धता, बौद्धिक प्रशिक्षण, विकास एवं उन्नति समानरूप से आवश्यक है, ताकि संस्कृति की सेवा में हरेक अपना-अपना पूरा हिस्सा अदा कर सके। इस एतबार से समानता का दावा बिल्कुल सही है और प्रत्येक शुद्ध संस्कृति का कर्त्तव्य यही है कि पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी अपनी प्राकृतिक योग्यता एवं क्षमता के अनुसार अधिक से अधिक प्रगतिशील होने का अवसर प्रदान करे। उनको ज्ञान एवं उच्च प्रशिक्षण से सुसज्जित करे। उन्हें भी पुरुषों के समान सांस्कृतिक एवं आर्थिक अधिकार प्रदान करे और उन्हें समाज में आदर एवं सम्मान का स्थान भी दे, ताकि उनमें स्वाभिमान की भावना जाग्रत हो और उनके भीतर वे श्रेष्ठतम मानवीय गुण पैदा हो सकें, जो केवल स्वाभिमान की भावना ही से उत्पन्न हो सकते हैं। जिन राष्ट्रों ने इस प्रकार की समानता को अस्वीकार किया है, जिन्होंने अपनी औरतों को अज्ञानी अप्रशिक्षित, नीच एवं नागरिकता के अधिकारों से वंचित बना रखा है, वे स्वयं पतन के गर्त में गिर गये हैं, क्योंकि मानवता के पूरे अर्धागं को गिरा देने का अर्थ स्वयं मानवता को गिरा देना है। पतित माताओं की गोदों से आदरणीय, और अप्रशिक्षित माताओं की गोदों से उच्च प्रशिक्षित तथा नीच विचार वाली माताओं के

पालने से उच्च विचार वाले मनुष्य नहीं निकल सकते।

परन्तु समानता का एक दूसरा पक्ष यह है कि औरत और मर्द दोनों का कार्य-क्षेत्र एक ही हो। दोनों एक ही से काम करें, दोनों पर जीवन के हर विभाग के दायित्वों का भार समान रूप से डाला जाए और संस्कृति-व्यवस्था में दोनों की हैसियत बिल्कुल एक सी हो। इसके समर्थन में विज्ञान की खोजों एवं अनुभवों से यह सिद्ध किया जाता है कि औरत और मर्द अपनी शारीरिक क्षमता एवं शक्ति के अनुसार समान हैं, परन्तु केवल यह बात कि इन दोनों में इस प्रकार की समानता पाई जाती है, इस बात का निर्णय करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि प्रकृति का अभिप्राय भी दोनों से एक ही प्रकार का काम लेना है। ऐसी राय रखना उस समय तक ठीक नहीं हो सकता, जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाए कि दोनों की शारीरिक व्यवस्था भी समान है। दोनों पर प्रकृति ने एक ही जैसी सेवाओं का भार भी डाला है और दोनों की आन्तरिक भावनायें भी एक-दूसरे के अनुरूप हैं। मनुष्य ने अब तक जितना वैज्ञानिक अन्वेषण किया है उससे इन बातों का उत्तर निषेध में मिलता है।

जीव-शास्त्र की खोजों से सिद्ध हो चुका है कि औरत अपने वाह्येन्द्रियों से लेकर अपने शरीर के अणुओं और ऊति-कोशा के प्रोभूजेय व्यूहाणुओं तक हर चीज़ में मर्दों से भिन्न है। जिस समय गर्भाशय में बच्चे के भीतर लैंगिक निर्माण होने लगता है, उसी समय से दोनों जातियों की शारीरिक रचना बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न रूप में तरक्की करती है। औरत की पूर्ण शारीरिक व्यवस्था इस प्रकार तैयार की जाती है कि वह बच्चा जनने और उसको पालने-पोसने के लिए

तैयार हो। आरम्भिक भ्रुण-निर्माण से लेकर युवावस्था तक उसके शरीर का पूर्ण विकास इसी क्षमता की पूर्ति के लिए हो रहा है, यही वस्तु उसके आगामी जीवन का मार्ग निश्चित करती है।

तरुणी होने पर मासिक धर्म का सिलसिला आरम्भ होता है, जिसके प्रभाव से उसके शरीर की समस्त इन्द्रियों की क्रिया-शक्ति प्रभावित होती है। जीव एवं इन्द्रिय शास्त्र के विशेषज्ञों के निरीक्षणों से ज्ञात होता है कि मासिक धर्म के समय नारी के भीतर निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं :—

१—शरीर में ताप को रोकने की शक्ति कम होने लगती है। इस लिए ताप अधिक निकल जाता है और तापक्रम गिर जाता है।

२—नाड़ी सुस्त हो जाती है। रक्त-भार कम हो जाता है। रक्त कोशाओं की संख्या में अन्तर पैदा हो जाता है।

३—अन्तरासर्गी ग्रन्थियों, गले की गिलटियों और लिम्फैटिक ग्रन्थियों में तबदीली पैदा हो जाती है।

४—प्रोटीन मेटाबोलिज्म में कमी आ जाती है।

५—फास्फेट्स और क्लाराइड के निकलने में कमी और गैसियस मेटाबोलिज्म में क्षीणता प्रकट होने लगती है।

६—पाचन-क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। और भोजन के प्रोटीनी भाग और शरीर में चरबी के भाग में कमी हो जाती है।

७—सांस लेने की क्षमता में कमी और वाकेन्द्रियों में विशेष परिवर्तन होते हैं।

८—अवयवों में सुस्ती और भावनाओं में तीक्ष्णता आ जाती है। ये परिवर्तन एक स्वस्थ स्त्री को रोग की अवस्था से इतना अधिक निकट

कर देते हैं कि वास्तव में उस समय स्वास्थ्य और रोग के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन हो जाता है। मुश्किल ही से १०० में से २३ औरतें ऐसी होती हैं जिनको मासिक धर्म, बिना किसी दर्द एवं कष्ट के आते हों। एक बार १०२० औरतों की बिना चुनाव किए हुए, उनकी स्थिति की जांच की गई, तो उनमें से ८४ प्रतिशत ऐसी निकलीं, जिनको मासिक धर्म के समय में दर्द तथा दूसरे प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता था। डा० अमील-नोवक, जो इस विज्ञान का बड़ा विशेषज्ञ है, लिखता है :—

'रजस्वला स्त्रियों में आम तौर पर जो अवस्था पाई जाती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

सिर का दर्द, थकन, अवयवों का अकड़ना, स्नायविक कमज़ोरी, सुस्ती, मूत्राशय की बेचैनी, पाचन की ख़राबी, कुछ हालात में अपच, कभी-कभी मतली और क़ै। एक अच्छी भली संख्या ऐसी औरतों की है, जिनकी छातियों में हल्का सा दर्द होता है और कभी-कभी वह इतना तेज़ हो जाता है कि टीसें भी उठती मालूम होती हैं। कुछ औरतों का थाईराइड इस अवस्था में सूज जाता है, जिससे गला भारी हो जाता है। कभी-कभी उफारे की शिकायत होती है और बहुधा साँस लेने में कठिनाई होती है। डा० क्रीगर ने जितनी औरतों की जांच की, उनमें से आधी ऐसी थीं, जिनको मासिक धर्म के समय में अपच की शिकायत हो जाती थी और आख़िरी दिनों में क़ब्ज़ हो जाता था। डा० गिबहार्ड का वर्णन है कि 'ऐसी स्त्रियां बहुत कम देखने में आई हैं जिनको मासिक धर्म के समय कोई तकलीफ़ न होती हो। अधिकतर ऐसी ही देखी गई हैं, जिन्हें सिर का दर्द, थकन, पिंडली के नीचे का दर्द और भूख की कमी हो जाती है। तबीअत में चिड़चिड़ापन पैदा हो जाता है और रोने

को जी चाहता है।' इन अवस्थाओं को देखते हुए कहना बिल्कुल सही है कि मासिक धर्म के समय एक स्त्री वास्तव में बीमार होती है। यह एक बीमारी ही है जो उसे हर महीने पैदा होती रहती है।

इन शारीरिक परिवर्तनों का प्रभाव निश्चय ही औरत की मानसिक शक्तियों और उसके अवयवों के कार्यों पर भी पड़ता है। सन् १९०९ में डा० Voicechevsky ने गहरे निरीक्षण के बाद यह नतीजा निकाला था कि इस समय में औरत के भीतर विचार को केन्द्रीभूत करने की और मानसिक परिश्रम की शक्ति कम हो जाती है प्रोफेसर Krschiskevsky मनोवैज्ञानिक निरीक्षणों के बाद इस नतीजे पर पहुंचा कि इस समय स्त्री की अवयवात्मक व्यवस्था अति उत्तेजनात्मक हो जाती है। भावनाओं में उग्रता एवं विषमता उत्पन्न हो जाती है। एक और स्त्री जो ट्राम की कन्डक्टर है, उस समय में ग़लत टिकट काट देगी और रेज़गारी गिनने में उलझेगी। एक मोटर ड्राइवर स्त्री गाड़ी धीरे-धीरे और डरते-डरते चलायेगी और हर मोड़ पर घबरा जाएगी। एक लेडी टाइपिस्ट ग़लत टाइप करेगी, देर में करेगी, कोशिश के बाद भी शब्दों को छोड़ जाएगी, ग़लत वाक्य बनाएगी, किसी अक्षर पर उंगली मारनी चाहेगी और हाथ किसी और पर जा पड़ेगा। एक बैरिस्टर स्त्री की तर्क-शक्ति ठीक न रहेगी, और अपने मुक़दमे को पेश करने में उसका मस्तिष्क और उसकी वाक्-शक्ति दोनों ग़लती करेंगी। एक मजिस्ट्रेट नारी की विवेक-शक्ति एवं निर्णय-शक्ति दोनों प्रभावित हो जायेंगी। एक दन्त-चिकित्सक नारी को अपना काम करते समय अभीष्ट यन्त्र कठिनाई से प्राप्त होंगे। एक गाने वाली स्त्री अपने स्वर और ध्वनि का गुण खो देगी, यहां तक कि स्वर विशेषज्ञ केवल स्वर सुन कर बता देगा कि गाने वाली इस समय मासिक-धर्म में है। तात्पर्य

तक सुस्त तथा अव्यवस्थित होती है। उसके अवयव पूरी तरह उसके इरादों के आधीन काम नहीं कर सकते। उसकी निश्चय-शक्ति और निर्णय-शक्ति समाप्त हो जाती है। उससे विवशतापूर्ण कार्य होने लगते हैं। इस हालत में उसके काम करने की स्वतंत्रता बाक़ी नहीं रहती और वह कोई दायित्वपूर्ण कार्य करने के क़ाबिल नहीं होती।

प्रोफेसर लापेन्स्की अपनी पुस्तक 'औरत के कर्त्तव्य का विकास' में लिखता है कि मासिक धर्म का समय औरत को उसके काम करने की स्वतंत्रता से वंचित कर देता है। वह उस समय बिल्कुल ही परिस्थितियों की दास होती है और उसमें निश्चयपूर्वक किसी काम के करने या न करने की ताक़त बहुत कम होती है।

ये सभी तबदीलियां एक स्वस्थ स्त्री में होती हैं और आसानी से बढ़ते-बढ़ते रोग का रूप धारण कर सकती हैं। रिकार्ड में ऐसी घटनायें बहुत ज़्यादा मौजूद हैं कि इस हालत में औरत पागल हो जाती है। तनिक सी बात पर क्रुद्ध हो जाना, असभ्य एवं मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठना, यहां तक कि आत्म-हत्या तक कर गुज़रना कोई असाधारण बात नहीं। डा० क्राफ्ट एबिंग लिखता है कि प्रतिदिन के जीवन में हम देखते हैं कि जो महिलायें उदार, सुसभ्य तथा सुशील होती हैं, उनकी हालत मासिक धर्म के समय के आते ही सहसा बदल जाती है। यह समय उनके ऊपर मानो एक तूफान की भांति आता है, वे चिड़चिड़ी, झगड़ालू और कटखनी हो जाती हैं। नौकर और बच्चे और पति सभी उनसे दुखी रहते हैं, यहां तक कि वे अपरिचित लोगों से भी बुरा व्यव-हार कर बैठती हैं। कुछ अन्य विशेषज्ञ गहरे अध्ययन के बाद इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि स्त्रियों से अधिकतर अपराध मासिक धर्म के समय ही में होते हैं। एक अच्छी भली नेक स्त्री उस समय चोरी कर

गुज़रेगी और बाद में स्वयं वह अपने इस कार्य पर लज्जित होगी। वाइन वर्ग अपने अनुभवों के आधार पर लिखता है कि आत्म-हत्या करने वाली औरतों में ५० प्रतिशत ऐसी पाई जाती हैं, जिन्होंने मासिक धर्म के समय में यह कार्य किया है। इस आधार पर डा० क्राफ्ट एबिंग की राय यह है कि व्यस्क स्त्रियों पर जब किसी अपराध के सिलसिले में मुकदमा चलाया जाये तो न्यायालय को इसकी इन्क्वाइरी कर लेनी चाहिए कि यह अपराध कहीं मासिक धर्म की हालत में तो नहीं हुआ।

मासिक-धर्म से बढ़ कर गर्भ का समय नारी पर कठिन होता है। डा० रीप्रीफ लिखता है कि गर्भ के समय में नारी के शरीर से मल का बहिष्कार कभी-कभी उपवास की हालत से भी अधिक मात्रा में होता है। उस समय नारी की शक्तियां किसी प्रकार भी शारीरिक एवं मानसिक श्रम का वह भार नहीं संभाल सकतीं, जो गर्भ के अलावा दूसरे दिनों में संभाल सकती हैं, जो हालत उस समय एक औरत पर गुज़रती है, वह अगर मर्द पर गुज़रे या गर्भ के अलावा के दिनों में स्वयं नारी पर गुज़रे, तो निश्चय ही रोग का हुक्म लगा दिया जाए। उस समय कई महीने तक उसकी अवयव-व्यवस्था जीर्ण-शीर्ण रहती है। उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। वह रोग और स्वास्थ्य के बीच लटकी रहती है और एक मामूली वजह उस को बीमारी की सीमा में पहुंचा सकती है। डा० फ़िशर का बयान है कि एक स्वस्थ नारी भी गर्भावस्था में तीक्ष्ण आन्तरिक उद्विग्नता की शिकार रहती है। उसमें वर्णान्तरण उत्पन्न हो जाता है। विचार परेशान करते रहते हैं। मस्तिष्क दूषित हो जाता है। चिन्तन, ध्यान, चिन्ता और समझ-बूझ का सामर्थ्य बहुत कम हो जाता है। ह्युलाक एलियस और अल्बर्ट मोल

और कुछ अन्य विशेषज्ञ इस पर सहमत हैं कि गर्भावस्था का अन्तिम एक महीना तो कदापि इस योग्य नहीं होता कि उसमें औरत से कोई शारीरिक या मानसिक काम लिया जाये।

शिशु-प्रसव के बाद अनेक रोगों के प्रकट होने और बढ़ जाने की आशंका रहती है। प्रसूति के घाव विषाक्त प्रभावों को अख़्तियार करने के लिए तैयार रहते हैं। गर्भ के पहले की हालत पर वापस आ जाने के लिए अवयवों में एक हरकत शुरू होती है जो सम्पूर्ण शरीर-व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण कर देती है। अगर कोई ख़तरा न भी हो, तब भी उसको अपनी असल हालत पर आने में कई हफ़्ते लग जाते हैं। इस तरह गर्भ ठहरने के बाद से पूरे एक वर्ष तक स्त्री वास्तव में रोगिणी या कम से कम अर्द्धरोगिणी होती है और उसकी कार्य-क्षमता सामान्य अवस्थाओं की अपेक्षा आधी बल्कि इससे भी कम रह जाती है।

फिर स्तन-पान (दूध पिलाने) का समय ऐसा होता है, जिसमें वास्तव में वह अपने लिए नहीं जीती, बल्कि उस धरोहर के लिए जीती है जो प्रकृति ने उसके सुपुर्द किया है। उसके शरीर के तत्व से उसके बच्चे के लिए दूध बनता है। जो कुछ वह भोजन करती है, उसमें केवल उतना भाग उस के शरीर को मिलता है, जितना उसे ज़िन्दा रखने के लिए ज़रूरी है। सब का सब दूध बनने में ख़र्च होता है, इसके बाद एक मुद्दत तक बच्चे के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा पर उसको पूरी तरह अपने ध्यान को उधर लगा देना पड़ता है।

आधुनिक समय में स्तन-पान (दूध पिलाने) की समस्या का हल यही निकाला गया है कि बच्चे को बाहरी खाद्य पदार्थों के बल पर जीवित रखा जाए। पर यह कोई उचित हल नहीं है, इसलिए कि प्रकृति ने बच्चे के लालन-पालन का जो सामान मां के सीने में रख दिया

है, उसका उचित प्रतिरूप और कुछ नहीं हो सकता। बच्चे को इससे वंचित करना ज़ुल्म और ख़ुदगरज़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। तमाम विशेषज्ञ इस बात पर सहमत हैं कि बच्चों के शुद्ध विकास के लिए माता के दूध से उत्तम कोई भोजन नहीं।

इसी तरह बच्चों के प्रशिक्षण के लिए भी नर्सिंगहोम और बच्चों के ट्रेनिंग स्कूल के उपाय निकाले गए हैं, ताकि मातायें अपने बच्चों से निश्चिंत हो कर बाहरी कामों में लग सकें। लेकिन किसी नर्सिंगहोम और किसी ट्रेनिंग स्कूल में माता एवं मातृत्व-प्रेम एकत्र नहीं किया जा सकता। बचपन का आरम्भ-काल जिस प्रेम तथा जिस उदारता एवं सहानुभूति पर आश्रित है, वह किराए की पालने-पोसने वालियों के सीने में कहां से आ सकती है। शिशु-प्रशिक्षण के ये आधुनिक तरीक़े अभी तक आज़माए नहीं गए हैं। अभी तक वे नस्लें फल-फूल भी नहीं पाई हैं जो बच्चे पालने के लिए इन नए कारख़ानों में तैयार की गई हैं। अभी तक उनके आचरण, उनके चरित्र, उनकी कृतियां संसार के सामने नहीं आई हैं कि इस प्रयोग की कामियाबी व नाकामी के बारे में कोई राय क़ायम की जा सके। इसलिए इस प्रयोग के बारे में यह दावा करना समय से पहले की बात होगी कि संसार में माता की गोद का शुद्ध प्रतिरूप प्राप्त कर लिया गया है। कम से कम इस समय तो यह तथ्य अपनी जगह पर क़ायम है, कि बालक का स्वाभाविक ट्रेनिंग हाउस उस की माता की गोद होता है।

अब यह बात एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी समझ सकता है कि अगर औरत और मर्द, दोनों की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति एवं क्षमता पूर्णरूपेण समान है, तब भी प्रकृति ने दोनों पर समान भार नहीं डाला है। मानव-जाति को बाक़ी बनाए रखने के लिए बीजारोपण के

अतिरिक्त और कोई कार्य मर्द के सुपुर्द नहीं किया गया। इसके बाद वह पूरी तरह आज़ाद है, जीवन के जिस विभाग में चाहे कार्य करे। इसके विपरीत, इस सेवा का पूरा भार स्त्री पर डाल दिया गया है। इसी भार को संभालने के लिए उस को उस समय से तैयार किया जाता है जब कि वह माता के गर्भ में एक मात्र मांस का लोथड़ा होती है। इसी के लिए उसके शरीर की सारी मशीन फिट की जाती है। इसी के लिए उस पर युवावस्था में मासिक धर्म के दौरे आते हैं, जो हर महीने तीन से लेकर सात या दस दिन तक उसको किसी बड़ी ज़िम्मेदारी का भार संभालने तथा कोई महत्वपूर्ण शारीरिक या मानसिक कार्य करने के योग्य नहीं रखते। इसी के लिए उस पर गर्भावस्था तथा इसके बाद का पूरा एक वर्ष कष्ट सहन करते ही बीत जाता है। जिसमें वह वास्तव में अर्द्धप्राण हो जाती है। उस पर स्तन-पान के पूरे दो वर्ष इस तरह गुज़रते हैं कि वह अपने रक्त से मानवता की कृषि को सिंचित करती है और उसे अपने सीने की नहरों से सींचती है। इसी के लिए उसपर शिशु के आरम्भिक लालन-पालन के कई वर्ष इस परिश्रम और कठिनाई में गुज़रते हैं कि उसपर रात की नींद और दिन का आराम हराम हो जाता है। और वह अपना सुख, अपना आनन्द, अपनी प्रसन्नता, अपनी इच्छा, तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु को आने वाली नस्ल पर क़ुर्बान कर देती है।

जब स्थिति यह है तो विचार कीजिये कि न्याय क्या है? क्या न्याय यही है कि औरत से उन प्राकृतिक दायित्वों की पूर्ति की भी मांग की जाये जिनमें मर्द उसका साझीदार नहीं है और फिर उन सांस्कृतिक दायित्वों का भार भी उस मर्द के बराबर डाल दिया जाये, जिनको सम्भालने के लिये मर्द प्रकृति की ज़िम्मेदारियों से आज़ाद रखा गया है।

उससे कहा जाये कि उन तमाम संकटों को भी सहे जो प्रकृति ने तेरे ऊपर डाले हैं, और फिर हमारे साथ आ कर रोज़ी कमाने के कष्ट भी सहन कर, राजनीति, न्यायालय, उद्योग-धन्धे और व्यापार एवं कृषि तथा शान्ति-स्थापना और स्वदेश-रक्षा की सेवाओं में समान-रूप से भाग ले, हमारे समाज में आकर हमारा मन भी बहला और हमारे लिये भोग-विलास एवं आमोद-प्रमोद की सामग्रियां भी एकत्र कर? यह न्याय नहीं अन्याय है. समानता नहीं स्पष्ट रूप से विषमता है। न्याय का तक़ाज़ा तो यह होना चाहिये कि जिस पर प्रकृति ने अत्यधिक भार डाला है, उसको संस्कृति के हल्के और साधारण कार्य सुपुर्द किये जायें और जिस पर प्रकृति ने कोई भार नहीं डाला, उस पर संस्कृति की महत्वपूर्ण तथा अधिक उद्यमी ज़िम्मेदारियों का भार डाला जाए और उसी के सुपुर्द यह सेवा भी की जाये कि वह परिवार का भरण-पोषण और उसका संरक्षण करे।

केवल यही नहीं कि औरत पर घर के बाहर की ज़िम्मेदारियों को लादना ज़ुल्म है, बल्कि, वास्तव में वह उन सेवाओं को पूर्ण करने के पूरी तौर पर योग्य भी नहीं है, जिसका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है। इन कार्यों के लिये वही कार्यकर्त्ता उपयुक्त हो सकते हैं, जिनकी कार्य-क्षमता स्थायी हो। जो निरन्तर व अविराम अपने-अपने कर्तव्यों को योग्यता के साथ पूरा कर सकते हों और जिनकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों पर विश्वास किया जा सकता हो। पर जिन कार्यकर्त्ताओं पर हमेशा हर महीने एक लम्बी मुद्दत के लिए अयोग्यता अथवा योग्यता-ह्रास के दौरे पड़ते हों और जिनकी कार्य-क्षमता बार-बार अपेक्षित मापदण्डों से घट जाया करती हो, वे किस प्रकार इन ज़िम्मेदारियों का बोझ उठा सकते हैं? उस सेना या उस समुद्री बेड़े की

स्थिति का अन्दाज़ा कीजिए जो औरतों से बनी हो और जिसमें ठीक युद्ध के अवसर पर कई प्रतिशत तो मासिक-धर्म के कारण अर्द्ध-अकर्मण्य हो रही हों। एक अच्छी-भली संख्या प्रसूतिका की स्थितियों में बिस्तरों पर पड़ी हो और एक गण्य संख्या गर्भिणी होने के कारण कार्य करने में असमर्थ हो रही हो। सेना के उदाहरण को आप कह देंगे कि यह अति कठोर कर्त्तव्यों में से है, परन्तु पुलिस, न्यायालय, व्यवस्थापिका, दूतालय की सेवायें, रेलवे, उद्योग-धन्धे और व्यापार के काम, इनमें से किस की ज़िम्मेदारियों ऐसी हैं, जो निरन्तर विश्वसनीय कार्य-क्षमता के लोगों को न चाहती हों? अतएव जो लोग औरतों से मर्दाना काम लेना चाहते हैं, उनका ध्येय कदाचित यह है कि या तो तमाम नारियों को 'अनारी' बना कर मानव-जाति को समाप्त कर दिया जाये या यह कि इनमें से कुछ प्रतिशत अनिवार्य रूप से 'अस्त्री' बनने के दण्ड के लिये चुनी जाती रहें या यह कि तमाम सांस्कृतिक मामलों के लिए क्षमता एवं योग्यता का स्तर साधारण रूप से घटा दिया जाये।

परन्तु, भले ही आप इनमें से कोई रूप अपना लें, औरत को मर्दाना कामों के लिये तैयार करना प्राकृतिक अपेक्षाओं एवं सिद्धांतों के ठीक प्रतिकूल है और वह चीज़ न मानवता के लिये मुफ़ीद है न ख़ुद औरत के लिए। चूँकि जीव-विज्ञान के अनुसार औरत को बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने-पोसने ही के लिये बनाया गया है, इसलिये मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी उसमें वही क्षमतायें रखी गई हैं जो उसके प्राकृतिक कर्त्तव्यों के लिये उपयुक्त हैं अर्थात प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द्र, श्रद्धा, हृदय-आर्द्रता, अनुभव की तीव्रता और भावनाओं की कोमलता। और चूँकि जातीय जीवन में मर्द को क्रिया का और स्त्री को कर्म का स्थान दिया गया है, इसलिए स्त्री में वही तमाम गुण पैदा किये गये हैं, जो उसे

जीवन के कर्म-प्रधान पक्षों में काम करने के लिये तैयार करते हैं। उसके भीतर क्रूरता एवं कठोरता के स्थान पर कोमलता, नम्रता तथा लोच है। उसमें प्रभावित करने के स्थान पर प्रभावित होने का गुण है। क्रिया के स्थान पर क्रिया का फल बनना है। और ठहरने के स्थान पर झुकने और ढल जाने की क्षमता है। साहस एवं धैर्य के स्थान पर निषेध, पलायन तथा बाधा है। क्या इन विशेषताओं को लेकर वह कभी इन कार्यों के लिये उपयुक्त हो सकती है और उन जीवन-क्षेत्रों में काम कर सकती है, जो तीव्रता, प्रतिरक्षा तथा सहिष्णुता चाहते हैं, जिनमें कोमल भावनाओं के स्थान पर दृढ़-संकल्प तथा बे-लाग राय की आवश्यकता है? संस्कृति के इन विभागों में औरत को घसीट लाना स्वयं उसको नष्ट करना है और उन विभागों को भी।

इसमें औरत की उन्नति नहीं, पतन है। उन्नति इसको नहीं कहते कि किसी की नैसर्गिक क्षमताओं को दबाया और मिटाया जाये और उसमें कृत्रिम रूप से वे क्षमतायें उत्पन्न करने का प्रयास किया जाये जो प्राकृतिक रूप से उसमें नहीं है, बल्कि विकास इसका नाम है कि प्राकृतिक क्षमताओं को विकसित होने का अवकाश दिया जाये, उनको निखारा और चमकाया जाये और उनके उत्तम से उत्तम कार्य के लिये अवसर पैदा किये जाएँ।

इसमें औरत के लिये कामियाबी नहीं, नाकामी है। जीवन के एक पहलू में औरत कमज़ोर हैं और मर्द बढ़े हुये हैं, दूसरे पहलू में मर्द कमज़ोर हैं और औरतें बढ़ी हुई हैं। तुम ग़रीब औरतों को उस पहलू में मर्द के मुक़ाबले पर लाते हो, जिसमें वे कमज़ोर हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यही होगा कि औरतें सदा मर्दों से हीन दशा में रहेंगी। तुम चाहे कितने ही उपाय कर लो, सम्भव नहीं है कि औरतों में से अरस्तू, इब्ने

सीना, कान्ट, हैगल, ख़य्याम, शेक्सपियर, सिकन्दर, निपोलियन, सलाहुद्दीन, निज़ामुल्मुल्क तोसी और बिस्मार्क की टक्कर का एक व्यक्ति भी पैदा हो सके, और तमाम दुनिया के मर्द, चाहे कितना ही सिर मार लें, वे अपनी पूरी जाति में से एक साधारण दर्जे की माता भी पैदा नहीं कर सकते।

इसमें स्वयं संस्कृति का लाभ नहीं, हानि है। मानव-जीवन और सभ्यता को जितनी आवश्यकता तीक्ष्णता, तीव्रता एवं कठोरता की है, उतनी ही आवश्यकता, कोमलता, सुहृदयता और लोच की है, जितनी आवश्यकता अच्छे नीतिज्ञों और अच्छे व्यवस्थापकों की है, उतनी ही आवश्यकता अच्छी माताओं, अच्छी स्त्रियों तथा अच्छी गृहणियों की है। दोनों तत्वों में जिसको भी नष्ट कर दिया जाएगा, संस्कृति को बहरहाल भुगतना पड़ेगा।

यह वह कार्य-विभाजन है जो स्वयं प्रकृति ने मनुष्य की दोनों जातियों के बीच कर दिया है। जीव-शास्त्र, इन्द्रिय-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान के सम्पूर्ण ज्ञान इस विभाजन की ओर संकेत कर रहे हैं। बच्चा जनने और पालने की सेवा का औरत के सुपुर्द होना एक ऐसा निर्णायक तथ्य है जो स्वयं ही मानव-संस्कृति में उसके लिये एक कार्य-क्षेत्र तै कर देता है और किसी कृत्रिम तरीक़े में यह शक्ति नहीं कि प्रकृति के इस निर्णय को बदल सके। एक शुद्ध संस्कृति वही हो सकती है जो एक यह कि इस निर्णय को ज्यों का त्यों अपना ले, फिर औरत को उसके सही स्थान पर रख कर उसे समाज में सम्मानित करे, उसके वैध सांस्कृतिक एवं आर्थिक अधिकार स्वीकार करे। उस पर केवल घर की ज़िम्मेदारियों का बोझ डाले और घर से बाहर की ज़िम्मेदारियों और कुटुम्ब का नेतृत्व मर्द के सुपुर्द कर दे। जो संस्कृति

इस विभाजन को मिटाने का प्रयत्न करेगी, वह अस्थाई रूप से भौतिक प्रगति तथा मान-मर्यादा का कुछ प्रदर्शन तो कर सकती है, पर अन्ततः ऐसी संस्कृति का विनाश तै है, क्योंकि जब औरत पर मर्द के समान आर्थिक ज़िम्मेदारियों का भार डाला जायेगा तो वह अपने ऊपर से नैसर्गिक ज़िम्मेदारियों का भार उतार फेकेंगी और उसका परिणाम न केवल संस्कृति, बल्कि स्वयं मानवता का विनाश होगा। औरत अपनी भावुकता और अपनी प्राकृतिक बनावट के ख़िलाफ़ अगर कोई कोशिश करे, तो किसी न किसी हद तक मर्द के सब बोझ सम्भाल ले जायेगी। पर मर्द किसी प्रकार भी अपने आपको बच्चे जनने और पालने के योग्य नहीं बना सकता।

प्रकृति के इस कार्य-विभाजन को ध्यान में रखते हुये कुटुम्ब का जो गठन और समाज में मर्द और औरत के कर्त्तव्यों का जो निर्धारण किया जायेगा, उसका रूप निश्चय ही निम्न होगा :—

१—कुटुम्ब के लिये रोज़ी कमाना, उसकी सुरक्षा और उसकी प्रतिरक्षा और संस्कृति की उद्यमी सेवाओं की पूर्ति मर्द का काम हो और उसकी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार हो कि वह इन उद्देश्यों के लिए अधिक से अधिक लाभप्रद बन सके।

२—बच्चों का पालन-पोषण, गृहस्थी के कर्त्तव्य और गृहस्थ जीवन को शान्ति एवं सुख-स्वर्ग बनाना औरत का काम हो और उसको उत्तम शिक्षा-दीक्षा द्वारा इन्हीं उद्देश्यों के लिये तैयार किया जाये।

३—कुटुम्ब की व्यवस्था को क़ायम रखने और उसको अराजकता से बचाने के लिये एक व्यक्ति को जायज़ हदों में आवश्यक प्रभुत्व प्राप्त हो, ताकि कुटुम्ब एक बिनसिरी सेना न बनकर रह जाये। ऐसा

व्यक्ति केवल मर्द ही हो सकता है। क्योंकि जिस कुटुम्ब के सदस्य की मानसिक एवं आन्तरिक स्थिति बार-बार मासिक-धर्म तथा गर्भावस्था से बिगड़ती हो, बहरहाल इन अधिकारों का उपयोग करने के योग्य नहीं हो सकता।

४—सांस्कृतिक व्यवस्था में इस विभाजन एवं प्रशिक्षण व संगठन को स्थिर बनाये रखने के लिये आवश्यक सुरक्षाएँ की जायें ताकि निर्बुद्धि व्यक्ति अपनी मूर्खता से मर्दों और औरतों के कार्य-क्षेत्र में एक करके इस शुद्ध सांस्कृतिक व्यवस्था को नष्ट-विनष्ट न कर सकें।
